॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला
२४८

॥ श्रीः ॥

सौगत-सिद्धान्त-सार-संग्रहः

स्वोपज्ञहिन्दीभाषानुवादसहितः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
वाराणसी-१
१९५४

॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला
२४८

॥ श्रीः ॥

सौगतसिद्धान्तसारसंग्रहः

स्वोपज्ञहिन्दीभाषानुवादसहितः

संगृहीता

डाक्टर चन्द्रधर शर्मा

एम० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्०, एल् एल्० बी०,

साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, आदि

प्राध्यापक, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ।

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

सं० २०११] [ई० १९५४

प्रकाशकः—

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,

चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस,

पो० बाक्स नं० ८, बनारस

प्रथम संस्करण

१९५४

मुद्रकः—

विद्याविलास प्रेस,

बनारस—१

प्रस्तावना

प्रस्तुत 'सौगत–सिद्धान्तसार–संग्रह' नामक ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के उपदेशों से लेकर जब तक भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव रहा तब तक के आचार्यों के उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थों में से बौद्धदर्शन के सारभूत तत्वों का संग्रह किया गया है। भारत में बौद्धमत प्रायः पन्द्रह शताब्दियों तक रहा और इतने दीर्घ काल तक व्याप्त रहने वाले इस धर्म में अनेक मत मतान्तरों का जन्म हुआ। बौद्धदार्शनिकों के मौलिक शब्दों में ही बौद्धदर्शन के विकास का दिग्दर्शन कराना इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त किया गया है–(१) पालिवाङ्मय, (२) महायानसूत्र, (३) शून्यवाद, (४) विज्ञानवाद और (५) स्वतन्त्रविज्ञानवाद; तथा प्रत्येक परिच्छेद में (सूत्रों को छोड़ कर) आचार्यों के पूर्वापर सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुये ही यह संकलन किया गया है।

बौद्धदर्शन के कुछ ग्रन्थ अभी तक लुप्त हैं, कुछ मूल संस्कृत में उपलब्ध न होकर चीनी या भोट (तिब्बत) भाषा के अनुवादों में ही सुरक्षित हैं, कुछ प्राप्य होकर भी प्रकाशित नहीं हो पाये हैं और कुछ प्रकाशित होकर भी अब अप्राप्य या दुष्प्राप्य हैं। बौद्ध दर्शन पर बहुत कम कार्य हो पाया है और जितना हुआ है उसमें भी अधिकांश भ्रान्त और भ्रामक है।

महायान बौद्धमत और अद्वैत वेदान्त में भारतीय दर्शन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है। बौद्ध और वेदान्त दर्शनों को दो विरुद्ध दर्शन न समझकर एक ही दर्शन के विकास के विभिन्न रूप समझना चाहिये। कुछ महत्व पूर्ण भेद होने पर भी ये दोनों परस्पर–सम्बद्ध सोपान–परम्परा के समान क्रमबद्ध हैं। दर्शन–दीप की जो केन्द्रीय विचार–शिखा इनमें प्रकाशित हुई है उसका प्राकट्य उपनिषद् में हुआ, भगवान् बुद्ध ने उसे स्नेहदान से पुष्ट किया, हीनयान में उसकी ज्योति मन्द होकर टिमटिमाने लगी, महायान में वह ज्योति फिर पूर्णतया चमकी, गौडपादाचार्य ने उसका पर्याप्त प्रकाश फैलाया, शङ्कराचार्य में वह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची और शङ्करोत्तर अद्वैतियों के हाथों में पड़ कर वह नेत्रों के लिये चकाचौंध बन गई।

भगवान् बुद्ध विश्व–विभूति हैं। आचार्य अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव, असङ्ग, वसुबन्धु, चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कमलशील जैसे प्रसिद्ध दार्शनिकों से भारतवर्ष ही नहीं, अपि तु समस्त संसार गौरवान्वित हुआ है। बौद्धों का नैयायिकों और मीमांसकों से जो वादविवाद हुआ, उस

खण्डन-मण्डन से भारतीय दर्शनसाहित्य की बहुत कुछ श्री-वृद्धि हुई है। बौद्ध-धर्म सम्पूर्ण भारत में फैला और अपनी जन्मभूमि की सीमा को लाँघ कर लंका, बर्मा, स्याम, मलाया, जावा, सुमात्रा, नेपाल, तिब्बत, मंगोलिया, कोरिया, चीन और जापान तक गया। बौद्धधर्म भारत में लगभग डेढ़ सहस्र वर्षों तक व्याप्त रह कर और अनेक महान् दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता और सन्त पुरुषों को जन्म देकर काल-चक्र से अपनी जन्मभूमि से लुप्त हुआ। यद्यपि अब राजकुमार सिद्धार्थ नहीं रहे, तथापि भगवान् बुद्ध आज भी विद्यमान हैं; यद्यपि अब बौद्धधर्म भारत में व्यापक नहीं रहा, तथापि उसके मूल सिद्धान्त आज भी हिन्दू-धर्म में विद्यमान हैं; यद्यपि अब बौद्धदर्शन की भारत में उस रूप में प्रतिष्ठा नहीं रही, तथापि महायान के मुख्य तत्व, मूल उपनिषद्-दर्शन का विकसित रूप होने के कारण, आज भी अद्वैत वेदान्त में प्रतिष्ठित हैं।

चार्वाक, जैन और बौद्धदर्शन, वेद-निन्दक होने के कारण, 'नास्तिक' दर्शन कहे जाते हैं। धर्म का आधार न होने से चार्वाकदर्शन तो अधिक समय तक न टिक सका। उसकी इतनी दुर्गति हुई कि आज कुछ बिखरे हुये सूत्रों के, जिन्हें बृहस्पति-रचित कहा जाता है और अन्य दर्शनों में यत्र तत्र उपलब्ध कुछ उद्धरणों के अतिरिक्त चार्वाकदर्शन का एक भी मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। वेद और ईश्वर में विश्वास न होने पर भी धर्म तथा चरित्र के बल पर जैन और बौद्धदर्शनों की 'श्रमण'-परम्परा चल निकली। जैनधर्म भारत में ही सीमित रहा, किन्तु बौद्धधर्म विश्वधर्म बना। किन्तु जैनधर्म भारत में बना रहा, जब कि बौद्धधर्म को भारत से उखड़ना पड़ा। इसके कई कारण हैं जिनमें वेदों की निन्दा और ब्राह्मणधर्म के विरुद्ध खुला संघर्ष भी एक मुख्य कारण रहा है। भगवान् बुद्ध का वैदिक कर्मकाण्ड से, मुख्यतः यज्ञों में दी जाने वाली पशु-बलि से, और जन्मना जाति मानने से विरोध रहा; किन्तु उपनिषद्-दर्शन से उनका कोई विरोध नहीं था। भगवान् बुद्ध के शिष्यों में कई प्रतिभाशाली ब्राह्मण थे और प्रसिद्ध बौद्धदार्शनिकों में भी कई ब्राह्मण ही थे। भगवान् बुद्ध के उपदेशों में भी कई मुख्य स्थलों पर उपनिषद्-दर्शन की छाप स्पष्ट है। महायान ने बुद्ध-वचनों का उपनिषद्-दर्शन की रीति से ही विकास किया। किन्तु कालान्तर में धार्मिक विद्वेष के कारण बौद्धों और ब्राह्मणों में संघर्ष छिड़ा जो बौद्धधर्म के लिये घातक सिद्ध हुआ। इन सब बातों का विस्तृत विवेचन मैं अपने 'बौद्धदर्शन

और वेदान्त' नामक ग्रन्थ में, जिसे उत्तर-प्रदेश-राज्य ने 'सर्वमान्य हिन्दी-पुस्तकपुरस्कार' द्वारा सम्मानित किया है, कर चुका हूँ।

बौद्धधर्म के भारत से लुप्त हो जाने के कारण उसके साथ ही बौद्धों का साहित्य भी बहुत कुछ लुप्त हुआ। पण्डितों का बौद्धदर्शन का ज्ञान, अन्य दर्शनों में पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित सिद्धान्तों तक ही सीमित हो गया। इस एकाङ्गी और भ्रमपूर्ण ज्ञान की परम्परा बन गई। पिछले कुछ वर्षों से कुछ पाश्चात्य और कुछ इने गिने पौरस्त्य विद्वानों के परिश्रम के कारण बौद्धदर्शन के कई ग्रन्थ प्रकाश में आये और कुछ का, जो मूल संस्कृत में न मिल सके, चीनी या भोट भाषा से रूपान्तर किया गया। इन मौलिक ग्रन्थों से बौद्धदर्शन के विषय में प्रचलित कई भ्रान्त धारणाओं पर कुठाराघात हुआ और बौद्धदर्शन अपने स्वरूप में चमकने लगा। किन्तु अब भी बहुत से ग्रन्थ दुष्प्राप्य हैं और जो उपलब्ध हैं उनमें भी बहुत से, पारिभाषिक शब्दों के कारण तथा अपनी दार्शनिक परम्परा के कारण दुरूह हैं। पण्डितों में इनका प्रचार नहीं हो पाया है और बौद्धदर्शन के विषय में अनेक भ्रान्त धारणायें अब भी रूढ हैं। अतः यह अत्यावश्यक समझ कर कि बौद्धदर्शन के उपलब्ध ग्रन्थों से उनके सार का उन्हीं के आचार्यों के शब्दों में संग्रह किया जाना चाहिये जिससे बौद्धदर्शन अपने स्वरूप में विद्वज्जनों को सुलभ हो सके, मैंने यह प्रयास किया है। साथ में मैंने इस संग्रह का हिन्दी अनुवाद भी कर दिया है। अनुवाद केवल भाषान्तर ही नहीं है, अपितु इसमें मैंने पारिभाषिक शब्दों और भावार्थ को स्पष्ट करने का भी प्रयत्न किया है। इस संग्रह से बौद्धदर्शन के विकास को समझने में पर्याप्त सहायता मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। यह ग्रन्थ संग्रह है, अतः इसमें दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना और आलोचना नहीं हो सकी है। यह कमी मैंने अपने 'बौद्धदर्शन और वेदान्त' नामक ग्रन्थ में पूरी कर दी है, अतः बौद्धदर्शन का स्वरूप समझने के लिये उस ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता रहेगी।

यदि विद्वज्जनों में इस ग्रन्थ के कारण बौद्धदर्शन के विषय में प्रचलित भ्रान्तियों का उन्मूलन हुआ और बौद्ध दर्शन के स्वरूप का प्रकाश हुआ, तो मेरा परिश्रम सफल होगा।

चन्द्रधर शर्मा

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
चैत्र शुक्ला १, सं० २०११

समर्पणम्

द्वैतान्धकारपरिहारदिवाकराय

संसारतापशमनाऽमृतवारिदाय ।

तस्मै हिताय सुगताय तथागताय

सारस्तदीयसमयस्य समर्प्यतेऽयम् ॥

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद : पालिवाङ्मय

ग्रन्थनाम			मूलपृष्ठसंख्या	अनुवादपृष्ठसंख्या
१ विनयपिटकं	: महावग्गो		१	६०
२ सुत्तपिटकं	: दीघनिकायो		३	९२
३ ,,	: मज्झिमनिकायो		८	६८
४ ,,	: संयुत्तनिकायो		१०	१००
५ ,,	: अंगुत्तरनिकायो		११	१०१
६ ,,	: खुद्दकनिकायो	: खुद्दकपाठो	,,	,,
७ ,,	: ,,	: धम्मपद	१२	,,
८ ,,	: ,,	: उदानं	१३	१०३
९ ,,	: ,,	: इतिवुत्तकं	१४	१०४
१० ,,	: ,,	: सुत्तनिपातो	,,	,,
११ अभिधम्मपिटकं	: कथावत्थु		१५	,,
१२ अट्ठकथा			१८	१०८
१३ मिलिन्दपञ्हो			,,	,,

द्वितीय परिच्छेद : महायानवैपुल्यसूत्र

१ ललितविस्तरसूत्र	२२	११३
२ अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र	२३	११५
३ शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र	२५	११७
४ दशभूमिकसूत्र	२७	११८
५ लंकावतारसूत्र	२९	१२०
६ सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र	३१	१२३
७ समाधिराजसूत्र	,,	,,
८ सुवर्णप्रभाससूत्र	३२	१२५
९ अन्यमहायानसूत्र :		
(१) वज्रच्छेदिका	३३	१२५
(२) नैरात्म्यपरिपृच्छा	,,	,,
(३) राष्ट्रपालपरिपृच्छा	३४	१२६

(४) मञ्जुश्रीपरिपृच्छा	३४	१२६
(५) शालिस्तम्बसूत्र	"	"
(६) रत्नकूटसूत्र	"	१२७
१० सौन्दरनन्द	३६	१२८
११ बुद्धचरित	३७	१३०

तृतीयपरिच्छेद : शून्यवाद

१ मूलमाध्यमिककारिका	३९	१३२
२ विग्रहव्यावर्त्तनी (स्वोपज्ञवृत्तिसहित)	४६	१४३
३ रत्नावली	४८	१४५
४ चतुःशतक	४९	१४७
५ चित्तविशुद्धिप्रकरण	५१	१४९
६ प्रसन्नपदा माध्यमिकवृत्ति	५२	१५०
७ मध्यमकावतार	५८	१६०
८ बोधिचर्यावतार	५९	१६३

चतुर्थपरिच्छेद : विज्ञानवाद

१ महायानसूत्रालंकार	६२	१६७
२ अभिधर्मकोश	६५	१७१
३ त्रिस्वभावनिर्देश	६७	१७५
४ विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि–		
(१) विंशतिका (स्वोपज्ञवृत्तिसहिता)	६७	१७५
(२) त्रिंशिका	७०	१७९
५ त्रिंशिकाभाष्य	७१	१८१

पञ्चमपरिच्छेद : स्वतन्त्रविज्ञानवाद

१ प्रमाणसमुच्चय	७५	१८५
२ आलम्बनपरीक्षा	"	"
३ न्यायबिन्दु	७६	१८६
४ प्रमाण–वार्तिक	"	"
५ तत्त्वसंग्रह	७८–८९	१८८–२०२

॥ श्रीः ॥

सौगत-सिद्धान्त-सार-संग्रहः

प्रथमः परिच्छेदः

पालिवाङ्मयम्

विनयपिटकं

महावग्गो

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स

१, १, १. तेन समयेन बुद्धो भगवा उरुवेलायं विहरति नज्जा नेरञ्जराय तीरे बोधिरुक्खमूले पठमा'भिसम्बुद्धो । अथ खो भगवा पटिच्चसमुप्पादं अनुलोमपटिलोमं मनसा'कासि । अविज्जापच्चया संखारा, संखारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सळायतनं, सळायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सु'पायासा संभवन्ति । एवमे'तस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति ।

१, १, २. अविज्जाय त्वे'व असेसविरागनिरोधा संखारनिरोधो, संखारनिरोधा विञ्ञाणनिरोधो, विञ्ञाणनिरोधा नामरूपनिरोधो, नामरूपनिरोधा सळायतननिरोधो, सळायतननिरोधा फस्सनिरोधो, फस्सनिरोधा वेदनानिरोधो, वेदनानिरोधा तण्हानिरोधो, तण्हानिरोधा उपादाननिरोधो, उपादाननिरोधा भवनिरोधो, भवनिरोधा जातिनिरोधो, जातिनिरोधा जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सु'पायासा निरुज्झन्ति । एवमे' तस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होति ।

१, १, ५. अधिगतो खो मया' यं धम्मो गंभीरो दुद्दसो दुरनुबोधो सन्तो पणीतो अतक्कावचरो निपुणो पण्डितवेदनीयो । आलयारामा खो पना'यं पजा आलयरता आलयसम्मुदिता । आलयारामाय खो पन पजाय आलयरताय आलयसम्मुदिताय दुद्दसं इदं ठानं यदिदं इदप्पच्चयता पटिच्चसमुप्पादो । इदम्पि खो ठानं सुदुद्दसं यदिदं सब्बसंखारसमथो सब्बूपधिपटिनिस्सग्गो तण्हाक्खयो विरागो निरोधो निब्बाणं ।

अपारुता तेसं अमतस्स द्वारा ये सोतवन्तो पमुञ्चन्तु सद्धम् ।

१, १, ७. अथ खो भगवा बाराणसियं इसिपतने मिगदाये पञ्चवग्गिये भिक्खू एतद'वोच—अरहं भिक्खवे, तथागतो सम्मासम्बुद्धो, ओदहथ भिक्खवे सोतं, अमतं अधिगतं, अहं अनुसासामि, अहं धम्मं देसेमि । द्वे' मे भिक्खवे अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा । कतमे द्वे ? यो चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो, यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो । एते खो भिक्खवे उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा ।

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं अरियसच्चं । जाति पि दुक्खा, जरा पि दुक्खा, ब्याधि पि दुक्खा, मरणं पि दुक्खं, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यं पि इच्छं न लभति तं पि दुक्खं, संखित्तेन पञ्चु' पादानक्खन्धा पि दुक्खा ।

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं । या' यं तण्हा पोनोभविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी, सेय्यथी' दं, कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा ।

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियसच्चं । यो तस्सा येव तण्हाय असेसविरागनिरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो ।

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं । अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो, सेय्यथी' दं, सम्मा दिट्ठि, सम्मासंकप्पो, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्तो, सम्मा आजीवो, सम्मा वायामो, सम्मा सति, सम्मा समाधि । अयं खो सा भिक्खवे मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा ।

यतो च खो मे भिक्खवे इमेसु चतूसु अरियसच्चेसु एवं तिपरिवट्टं द्वादसाकारं यथाभूतं ञाणदस्सनं सुविसुद्धं अहोसि, अथाहं भिक्खवे सदेवके लोके समारके सब्रह्मके सस्समणब्राह्मणिया पजाय सदेव-मनुस्साय अनुत्तरं सम्मा सम्बोधिं अभिसम्बुद्धो'ति पच्चञ्ञासिं।

१, १, ८. एवं भगवता बाराणसियं इसिपतने मिगदाये अनुत्तरं धम्मचक्कं पवत्तितं अप्पटिवत्तियं समणेन वा ब्राह्मणेन वा देवेन वा मारेन वा ब्रह्मुना वा केनचि वा लोकस्मिं।

१, २, ५. चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सव्यंजनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ।

१, ४, २. ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवंवादी महासमणो॥

इमं सुत्वा विरजं वीतमलं धम्मचक्खुं उदपादि—यं किंचि समुदय-धम्मं सब्बं तं निरोधधम्मं ति।

सुत्तपिटकं

दीघनिकायो

१. सन्ति भिक्खवे एके समणब्राह्मणा सस्सतवादा, सस्सतं अत्तानं च लोकं च पञ्ञापेन्ति। सन्ति भिक्खवे एके समणब्राह्मणा उच्छेदवादा, सत्तो सत्तस्स उच्छेदं विनासं विभवं पञ्ञापेन्ति। सन्ति भिक्खवे एके समणब्राह्मणा, एकच्चसस्सतिका एकच्चअसस्सतिका, एकच्चं सस्सतं एकच्चं असस्सतं अत्तानं च लोकं च पञ्ञापेन्ति।

इमे खो ते भिक्खवे समणब्राह्मणा पुब्बन्तकप्पिका च अपरन्त-कप्पिका च पुब्बन्ता'परन्तकप्पिका च पुबन्ता'परन्ता'नुदिट्ठिनो पुब्बन्ता' परन्तं आरब्भ अनेकविहितानि अधिवुत्तिपदानि अभिवदन्ति, द्वासट्ठिया वत्थूहि। नत्थि इतो बहिद्धा।

तदिदं भिक्खवे तथागतो पजानाति, ततो च उत्तरितरं पजानाति, तं च पजाननं न परामसति, अपरामसतो च' स्स पच्चत्तं येव निब्बुति विदिता, वेदनानं समुदयं च अत्थगमं च अस्सादं च आदीनवं च निस्सरणं च यथाभूतं विदित्वा अनुपादा विमुत्तो भिक्खवे तथागतो।

इमे खो ते भिक्खवे धम्मा गंभीरा दुद्दसा दुरनुबोधा सन्ता पणीता अतक्कावचरा निपुणा पण्डितवेदनीया ये तथागतो सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेति, ये हि तथागतस्स यथाभुच्चं वण्णं सम्मा वदमाना वदेय्युं।

(ब्रह्मजालसुत्तं)

२. इत्थं खो मे भन्ते पूरणो कस्सपो सामञ्ञफलं पुट्ठो समानो अकिरियं व्याकासि। खुरपरियन्तेन चे पि चक्केन यो इमिस्सा पठविया पाणे एकमंसखलं एकमंसपुंजं करेय्य, नत्थि ततो निदानं पापं। दानेन दमेन संयमेन सच्चवज्जेन नत्थि पुञ्ञं' ति।

इत्थं खो मे भन्ते मक्खलिगोसालो सामञ्ञफलं पुट्ठो समानो संसारसुद्धिं व्याकासि। नत्थि हेतु नत्थि पच्चयो सत्तानं संकिलेसाय। नत्थि हेतु नत्थि पच्चयो सत्तानं विसुद्धिया'ति।

इत्थं खो मे भन्ते अजितो केसकम्बली सामञ्ञफलं पुट्ठो समानो उच्छेदवादं व्याकासि। नत्थि दिन्नं, नत्थि हुतं, नत्थि सुकटदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको, नत्थि अयं लोको, नत्थि परो लोको। चातुम्महाभूतिको अयं पुरिसो यदा कालं करोति पठवी पठवीकायं, आपो आपोकायं, तेजो तेजोकायं, वायो वायोकायं अनुपेति, आकासं इन्द्रियाणि संकमन्ति।

इत्थं खो मे भन्ते पकुधो कच्चायनो सामञ्ञफलं पुट्ठो समानो अञ्ञेन अञ्ञं व्याकासि। पठवीकायो आपोकायो तेजोकायो वायोकायो सुखे दुक्खे जीवसत्तमे इमे सत्तकाया अकटा अकटविधा अनिम्मिता कूटट्ठा। ते न इञ्जन्ति न विपरिणमन्ति न अञ्ञमञ्ञं व्याबाधेन्ति। नत्थि हन्ता वा घातेता वा सोता वा सावेता वा विञ्ञाता वा विञ्ञापेता वा।

इत्थं खो मे भन्ते निगण्ठो नातपुत्तो सामञ्ञफलं पुट्ठो समानो चातु-

यामसंवरं व्याकासि। निगण्ठो सब्बवारीवारितो सब्बवारीयुतो सब्बवारीधुतो सब्बवारीपुट्ठो होति एवं चातुयामसंवरसंवुतो होति।

इत्थं खो मे भन्ते सञ्जयो बेलट्ठिपुत्तो सामञ्ञफलं पुट्ठो समानो विक्खेपं व्याकासि। तथा ति पि मे नो। अञ्ञथा ति पि मे नो। नो ति पि मे नो। नो नो ति पि मे नो। अत्थि पि मे नो। नत्थि पि मे नो। उभयं पि मे नो। नोभयं पि मे नो।

सोहं भन्ते भगवन्तं पि पुच्छामि सामञ्ञफलं।

महाराज इदं सामञ्ञफलं यदयं भिक्खु सब्बदिट्ठी अतिक्कन्तो सीलसम्पन्नो होति समाधिसम्पन्नो होति पञ्ञासम्पन्नो होति। सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमज्झानं उपसम्पज्ज विहरति। अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियज्झानं उपसम्पज्ज विहरति। पीतिया च विरागा च उपेक्खको च सतिमा सुखविहारी ततियज्झानं उपसम्पज्ज विहरति। पुन न भिक्खु सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेन सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थंगमा अदुक्खं असुखं उपेक्खासतिपरिसुद्धिं चतुत्थज्झानं उपसम्पज्ज विहरति। सो इदं दुक्खं ति, अयं दुक्खसमुदयो ति, अयं दुक्खनिरोधो ति, अयं दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा ति यथाभूतं पजानाति। तस्स एवं पजानतो कामासवा भवासवा अविज्जासवा पि चित्तं विमुच्चति। खीणा जाति, वुसितं ब्रह्मचरियं, कतं करणीयं, ना परं इत्थत्ताया ति पजानाति। (सामञ्ञफलसुत्तं)

६. अव्याकतं खो पोट्ठपाद मया—सस्सतो लोको, असस्सतो लोको, सस्सतासस्सतो लोको, नेव सस्सतो नेवासस्सतो लोको; अन्तवा लोको, अनन्तवा लोको, अन्तानन्तवा लोको, नेव अन्तवा नेवानन्तवा लोको; होति तथागतो परं मरणा, न होति तथागतो परं मरणा, होति च न च होति तथागतो परं मरणा, नेव होति न न होति तथागतो परं मरणा; तं जीवं तं सरीरं, अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं, इदमेव सच्चं मोघं अञ्ञं ति, एतं पि सब्बं खो पोट्ठपाद मया अव्याकतं। न हेतं पोट्ठपाद अत्थसंहितं न धम्मसंहितं न आदिब्रह्मचरियकं, न निब्बिदाय, न विरागाय, न निरोधाय, न उपसमाय, न अभिञ्ञाय, न सम्बोधाय, न

निब्बाणाय संवत्तति। तस्मा तं मया अब्याकतं ति। इदं दुक्खं ति, अयं दुक्खसमुदयो ति, अयं दुक्खनिरोधो ति, अयं दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा ति खो पोट्ठपाद मया व्याकतं ति। एतं हि खो पोट्ठपाद अत्थसंहितं, एतं धम्मसंहितं, एतं आदिब्रह्मचरियकं, एतं निब्बिदाय, विरागाय, निरोधाय, उपसमाय, अभिञ्ञाय, सम्बोधाय, निब्बाणाय संवत्तति, तस्मा तं मया व्याकतं ति।

यथा पि पुरिसो एवं वदेय्य—अहं या इमस्मिं जनपदे जनपदकल्याणी तं इच्छामि तं कामेमी ति। तमेनं एवं वदेय्युं अम्भो पुरिस यं त्वं जनपदकल्याणीं इच्छेसि कामेसि, जानासि तं जनपदकल्याणीं खत्ती वा ब्राह्मणी वा वेस्सी वा सुद्दी वा ति? जानासि तं एवं नामा एवं गोत्ता ति वा दीघा वा रस्सा वा मज्झिमा ति वा काली वा सामा वा मंगुरच्छवी वा ति, अमुकस्मिं गामे वा निगमे वा नगरे वा ति? इति पुट्ठो 'नो' ति वदेय्य। तं किं मञ्ञसि पोट्ठपाद ननु एवं सन्ते तस्स पुरिसस्स अप्पाटीहीरकं भासितं सम्पज्जती ति? एवमेव खो पोट्ठपाद ये ते समणब्राह्मणा एवंवादिनो एवंदिट्ठिनो एकन्तसुखी अत्ता होति अरोगो परं मरणा ति, त्या हं उपसंकमित्वा एवं वदामि सच्चं किर तुम्हे आयस्मन्तो एवं वादिनो एवं दिट्ठिनो एकन्तसुखी अत्ता होति अरोगो परं मरणा ति? ते च मे एवं पुट्ठा 'आमो' ति पटिजानन्ति। त्या हं एवं वदामि—अपि पन तुम्हे आयस्मन्तो एकन्तसुखं लोकं जानं पस्सं विहरथा ति? इति पुट्ठा 'नो' ति वदन्ति। त्या हं एवं वदामि—अपि पन तुम्हे आयस्मन्तो एकं वा रत्तिं एकं वा दिवसं एकन्तसुखिं अत्तानं सञ्जानाथा ति? इति पुट्ठा 'नो' ति वदन्ति। तं किं मञ्ञसि पोट्ठपाद न नु एवं सन्ते तेसं समणब्राह्मणानं अप्पाटिहीरकतं भासितं संपज्जतीति?

यो खो भिक्खवे पटिच्चसमुप्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति, यो धम्मं पस्सति सो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति। सेय्यथा पि भिक्खवे गवा खीरं, खीरम्हा दधि, दधिम्हा नवनीतं, नवनीतम्हा सप्पि, सप्पिम्हा सप्पिमण्डो। यस्मिं समये खीरं होति नेव तस्मि समये दधि इति संखं गच्छति न नवतीतं न सप्पि न सप्पिमण्डो ति, खीरं त्वेव संखं गच्छति। यस्मिं

समये दधि होति दधित्वेव तस्मिं समये संखं गच्छति। एवमेव खो भिक्खवे यो मे अहोसि अतीतअत्तपटिलाभो सो च अत्तपटिलाभो तस्मिं समये सच्चो अहोसि, मोघो अनागतो मोघो पच्चुप्पन्नो। यो मे भविस्सति अनागतो अत्तपटिलाभो सो च मे अत्तपटिलाभो तस्मिं समये सच्चो भविस्सति, मोघो अतीतो मोघो पच्चुप्पन्नो। यो मे एतरहि पच्चुप्पन्नो अत्तपटिलाभो सो च मे अत्तपटिलाभो सच्चो, मोघो अतीतो मोघो अनागतो।

इमा खो भिक्खवे लोकसमञ्ञा लोकनिरुत्तिया लोकवोहारा लोकपञ्ञत्तियो, या हि तथागतो वोहरति अपरामसन्ति। (पोट्ठपादसुत्तं)

१५. एत्तावता खो आनन्द अत्तानं पञ्ञापेन्तो पञ्ञापेति—रूपं मे अत्ता इति, वेदना मे अत्ता इति, सञ्ञा मे अत्ता इति, संखारा मे अत्ता इति, विञ्ञाणं मे अत्ता इति। सब्बे पि धम्मा आनन्द अनिच्चा संखता पटिच्चसमुप्पन्ना खयधम्मा वयधम्मा विरागधम्मा निरोधधम्मा। इति सो दिट्ठे व धम्मे अनिच्चं सुखदुक्खवोकिण्णं उप्पादवयधम्मं अत्तानं समनुपस्समानो समनुपस्सति। यदा हि सब्बेन सब्बं सब्बथा सब्बं अपरिसेसा निरुज्झेय्युं अपि नु खो तत्थ 'अयं अहं अस्मीति सिया ति ?

(महानिदानसुत्तं)

१६. यावकीवं च भिक्खवे भिक्खू अभिण्हं सन्निपाता सन्निपातबहुला भविस्सन्ति, यावकीवं च समग्गा सन्निपतिस्सन्ति समग्गा वुट्ठहिस्सन्ति समग्गा संघकरणीयानि करिस्सन्ति, यावकीवं च अप्पञ्ञत्तं न पञ्ञापेस्सन्ति पञ्ञत्तं न समुच्छिन्दिस्सन्ति यथापञ्ञत्तेसु सिक्खापदेसु समादाय वत्तिस्सन्ति, यावकीवं च ये ते भिक्खू थेरा संघपितरो संघपरिणायका ते सक्करिस्सन्ति गरुकरिस्सन्ति मानेस्सन्ति पूजेस्सन्ति तेसं च सोतब्बं मञ्ञिस्सन्ति, यावकीवं च उप्पन्नाय तण्हाय पोनोभविकाय न वसं गच्छन्ति, यावकीवं च आरञ्ञकेसु सेनासनेसु सापेक्खा भविस्सन्ति, यावकीवं च पच्चत्तं येव सतिं उपट्ठापेस्सन्ति, किंति अनागता च पेसला सब्रह्मचारी आगच्छेय्युं, आगता च पेसला सब्रह्मचारी फासुं विहरेय्युं, वुद्धि येव भिक्खवे भिक्खूनं पाटिकङ्खा नो परिहानि इति।

यावकीवं च भिक्खवे इमे सत्त अपरिहानिया धम्मा भिक्खूसु ठस्सन्ति, वुद्धि येव भिक्खवे भिक्खूनं पाटिकङ्खा नो परिहानि।

अथ भगवा भिक्खू आमन्तेसि—सिया खो पन भिक्खवे एकभिक्खुस्सपि कंखा वा विमति वा बुद्धे वा धम्मे वा संघे वा मग्गे वा पटिपदाय वा ? पुच्छथ भिक्खवे। मा पच्छा विप्पटिसारिनो अहुवत्थ। एवं वुत्ते ते भिक्खू तुण्ही अहेसुं। नत्थि एकभिक्खुस्सपि कंखा वा विमति वा। अथ खो भगवा भिक्खू आमन्तेसि—अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा धम्मदीपा धम्मसरणा अनञ्ञसरणा। हन्द दानि भिक्खवे आमन्तयामि वो 'वयधम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथा' इति। अयं तथागतस्स पच्छिमा वाचा। (महापरिनिब्बाणसुत्तं)

मज्झिमनिकायो

२८. कतमो च भिक्खवे रूपुपादानक्खन्धो ? चत्तारि च महाभूतानि-पठवीधातु आपोधातु तेजोधातु वायोधातु, चतुन्नं च महाभूतानं उपादाय रूपं।

यतो च खो भिक्खवे अज्झत्तिकं चेव चक्खुं अपरिभिन्नं होति, बाहिरा च रूपा आपाथं आगच्छन्ति तज्जो च समन्नाहारो होति, एवं तज्जस्स विञ्ञाणभागस्स पातुभावो होति। तस्मा पटिच्च समुप्पन्नं विञ्ञाणं अञ्ञत्रपज्जया नत्थि विञ्ञाणस्स संभवोति वदामि।

चक्खुं च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति विञ्ञाणं चक्खुविञ्ञाणं। सोतं च पटिच्च सद्दे च उप्पज्जति विञ्ञाणं सोतविञ्ञाणं। घाणं च पटिच्च गन्धे च उप्पज्जति विञ्ञाणं घाणविञ्ञाणं। कायं च पटिच्च फोट्ठब्बे च उप्पजति विञ्ञाणं कायविञ्ञाणं। जिह्वां च पटिच्च रसे च उप्पज्जति विञ्ञाणं जिह्वाविञ्ञाणं। मनं च पटिच्च धम्मे च उप्पज्जति विञ्ञाणं मनोविञ्ञाणं न्त्वेव संखं गच्छति।

यं तथाभूतस्स रूपं तं रूपुपादानक्खन्धे, या तथाभूतस्स वेदना सा वेदनूपादानक्खन्धे, या तथाभूतस्स सञ्ञा सा सञ्ञुपादानक्खन्धे,

ये तथाभूतस्स संखारा ते ते संखारुपादानक्खन्धे, यं तथाभूतस्स विञ्ञाणं तं विञ्ञाणुपादानक्खन्धे च सङ्गहं गच्छति ।

तस्मादिह भिक्खवे यं किंचि रूपं, या काचि वेदना, या काचि सञ्ञा, ये केचि संखारा, यं किंचि विञ्ञाणं अतीतानागतपच्चुप्पन्नं अज्झत्तं वा बहिद्धा वा, सब्बं 'नेतं मम, नेसो' हमस्मि, न मे सो अत्ता' ति एवमेतं यथाभूतं संप्पञ्ञाय दट्ठब्बं ।

६३. यो खो भिक्खवे एवं वदेय्य 'न तावाहं भगवति ब्रह्मचरियं चरिस्सामि, याव मे भगवा न व्याकरिस्सति सस्सतो लोको ति वा, असस्सतो लोको ति वा, अन्तवा लोको ति वा, अनन्तवा लोको ति वा, तं जीवं तं सरीरं ति वा, अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ति वा, होति तथागतो परं मरणा ति वा, न होति तथागतो परं मरणा ति वा, अव्याकतमेव तं भिक्खवे तथागतेन अस्स, अथ सो पुग्गलो कालं करेय्य । यथापि भिक्खवे पुरिसो सल्लेन विद्धो अस्स सविसेन गाल्हापलेपनेन, तस्स मित्ता भिसक्कं उपट्ठापेय्युं । सो एवं वदेय्य 'न तावाहं इमं सल्लं आहारिस्सामि याव न तं पुरिसं जानामि येनम्हि विद्धो—खत्तियो वा ब्राह्मणो वा वेस्सो वा सुद्दो वा, एवं नामो एवं गोत्तो वा, दीघो वा रस्सो वा मज्झिमो वा' ति अनञ्ञातं एव तं भिक्खवे तेन पुरिसेन अस्स, अथ सो पुरिसो कालं करेय्य ।

६४. इध भिक्खवे अस्सुतवा पुथुज्जनो अरियानं अदस्सावी अरियधम्मस्स अकोविदा सक्कायदिट्ठी परियुट्ठितेन चेतसा विहरति । ये धम्मा न मनसिकरणीया ते धम्मे मनसि करोति । ये धम्मा मनसिकरणीया ते धम्मे न मनसि करोति ।

२. तस्स एवं अयोनिसो मनसिकरोतो छन्नं दिट्ठीनं अञ्ञतरा दिट्ठि उप्पज्जति—अत्थि मे अत्ता ति वा, नत्थि मे अत्ता ति वा, अत्तना अत्तानं संजानामि ति वा, अनत्तना अत्तानं संजानामि ति वा सच्चतो थेततो दिट्ठि उप्पज्जति । अथवा पनस्स एवं दिट्ठि होति—यो मे अयं अत्ता वदो वदेय्यो तत्र तत्र कल्याणपापकानं कम्मानं विपाकं पटिसंवेदेति, सो खो पन मे अयं अत्ता निच्चो धुवो सस्सतो अविपरिणाम-

धम्मो सस्सतिसमं तथेव ठस्सतीति। अयं भिक्खवे केवलो परिपूरो बालधम्मो। इदं वुच्चति भिक्खवे दिट्ठिगतं दिट्ठिगहनं दिट्ठिकन्तारं दिट्ठिविसूकं दिट्ठिविप्फन्दितं दिट्ठिसंयोजनं। दिट्ठिसंयोजनसंयुत्तो भिक्खवे न परिमुच्चति जरामरणेन सोकेहि परिदेवेहि दुक्खेहि दोमनस्सेहि उपायासेहि, न परिमुच्चति दुक्खस्माति वदामि।

२. सुतवा च भिक्खवे अरिया सवको अरियानं दस्सावी अरियधम्मस्स कोविदो दुक्खं दुक्खसमुदयं दुक्खनिरोधगामिनीं पटिपदां योनिसो मनसिकरोति तस्स तीणि संयोजनानि पहीयन्ति—सक्कायदिट्ठि, विचिकिच्छा, सीलब्बतपरामासो। स भवति सोतापन्नो अविनिपातधम्मो नियतो संबोधिपरायणो।

७२. दिट्ठिगतं ति भो भिक्खवे अपनीतमेतं तथागतस्स। तस्मा तथागतो सब्ब मञ्ञितानं सब्बमथितानं सब्बअहंकारममकारमानानुसयानं खया विरागा निरोधा चागा पटिनिस्सग्गा अनुपादा विमुत्तोति।

२६. ओदहथ भिक्खवे सोतं, अमतमधिगतं, अहं अनुसासामि अहं धम्मं देसेमि।

संयुत्तनिकायो

२१,२ सब्बे संखारा अनिच्चा, सब्बे संखारा दुक्खा, सब्बे धम्मा अनत्ता, यदनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनत्ता, यदनत्ता तं नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ताति।

१४,१ अनमतग्गोयं भिक्खवे संसारो। पुब्बा कोटि न पञ्ञायति। अपरा कोटि'पि न पञ्ञायति।

१४,२ तं किं मञ्ञथ भिक्खवे कतमं नु खो बहुतरं यं वा वो इमिना दीघेन अद्धुना संधावतं संसरतं कंदंतानं रोदन्तानं अस्सुपस्सन्दं पग्घरितं, एतदेव बहुतरं यं वा चतुसु महासमुद्देसु उदकं ति?

१४,२ तं कि मञ्ञथ भिक्खवे कतमं नु खो बहुतरं यं वा वो इमिना दीघेन अद्धुना संधावतं संसरतं सीसच्छिन्नानं लोहितं पस्सन्दं पग्घरितं, एतदेव बहुतरं यं वा चतुसु महासमुद्देसु उदकं ति?

१६,१० रूपं भिक्खवे निच्चं धुवं सस्सतं अविपरिणामधम्मं नत्थि इति सम्मतं लोके पंडितानं। अहं पि तं नत्थीति वदामि। वेदना सञ्ञा संखारा विञ्ञानं निच्चं धुवं सस्सतं अविपरिणामधम्मं नत्थि इति सम्मतं लोके पंडितानं। अहं पि तं नत्थीति वदामि।

नाहं भिक्खवे लोकेन विवदामि। लोको च मया विवदति। न भिक्खवे धम्मवादी केन चि लोकस्मिं विवदति। यं भिक्खवे अत्थि संमतं पंडितानं अहम्पि तं अत्थीति वदामि। यं भिक्खवे नत्थि संमतं पंडितानं अहं पि तं नत्थीति वदामि।

अंगुत्तरनिकायो

३,३२ एतं सन्तं एतं पणीतं यदिदं सब्बसंखारसमथो सब्बूपधि-पटिनिस्सग्गो तण्हक्खयो विरागो निरोधो निब्बाणं।

२,३३ इमिना मं परियायेन सम्मावदमानो वदेय्य 'उच्छेदवादी समणो गोतमो'ति, अहं हि भिक्खवे उच्छेदं वदामि रागस्स दोसस्स मोहस्स अनेकविहितानं पापकानं अकुसलानं धम्मानं उच्छेदं वदामि इति। ७,६ यं करणीयं कतं वो तं मया। एतानि भिक्खवे रुक्खमूलानि, एतानि सुञ्ञागारानि। झायथ भिक्खवे मा पमादत्थ। अयं अम्हाकं अनुसासनीति।

खुद्दकनिकायो

(१)

खुद्दकपाठो

६. खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं विरत्तचित्ता आयतिके भवस्मिं।
ते खीणबीजा अविरूलहिछन्दा निब्बन्ति धीरा यथा' यम्पदीपो॥
९. सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता।

(२)

धम्मपदं

मनो पुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो 'नं दुक्खमन्वेति चक्कं' व वहतो पदं ॥ १ ॥
न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगति प्पदेसो यत्थ ठ्ठितं न प्पसहेय्य मच्चू ॥ १२८ ॥
दीघा जागरतो रत्ति दीघं सन्तस्स योजनं।
दीघो बालानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं ॥ ६० ॥
सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता ॥ ८१ ॥
को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ ॥ १४६ ॥
गहकारक ! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं।
विसंखार गतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥ १५४ ॥
अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया ॥ १६० ॥
सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
स चित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ॥ १८३ ॥
दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियं च अट्ठंगिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ॥ १९१ ॥
एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं ॥ १९२ ॥
एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बानं परमं सुखं ॥ २०३ ॥
पविवेकरसं पीत्वा रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीतिरसं पिवं ॥ २०५ ॥
कामतो जायते सोको कामतो जायते भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥ २१५ ॥
ततो मला मलतरं अविज्जा परमं मलं।

एतं मलं पहत्वान निम्मला होथ भिक्खवो ॥ २४३ ॥
नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो गहो ।
नत्थि मोहसमं जालं नत्थि तण्हा समा नदी ॥ २५१ ॥
आकासे च पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे ।
संखारा सस्सता नत्थि नत्थि बुद्धानमिञ्जितं ॥ २५५ ॥
पपञ्चाभिरता पजा निप्पपञ्चा तथागता ॥ २५४ ॥
कुसो यथा दुग्गहीतो हत्थमेवा नु कन्तति ।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं निरयायुपकड्ढति ॥ ३११ ॥
अभये भयदस्सिनो भये चाभयदस्सिनो ।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥ ३१७ ॥
यस्स पारं अपारं वा पारावारं न विज्जति ॥ ३८५ ॥
वाहितपापो ति ब्राह्मणो समचरिया समणो ति वुच्चति ।
पब्बाजयमत्तनो मलं तस्मा पब्बजितो ति वुच्चति ॥ ३८८ ॥

(३)

उदानं

१०. यत्थ आपो न पठवी तेजो वायो न गाधति ।
न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो न प्पकासति ॥
न तत्थ चन्दिमा भाति तमो तत्थ न विज्जति ।
यदा च अत्तना वेदि मुनि सो तेन ब्राह्मणो ।
अथ रूपा अरूपा च सुखदुक्खा पमुच्चति ॥

१२. यं च कामसुखं लोके यं चिदं दिवियं सुखं ।
तण्हक्खयसुखस्से ते कलं नग्घन्ति सोळसिं ॥

२६. यम्हि न माया वत्तति न मानो यो खीणलोभो अममो निरासो ।
पणुन्नकोधो अभिनिब्बुतत्तो सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू ॥

३०. सब्बतो तण्हानं खया असेसविरागनिरोधो निब्बानं ।
तस्स निब्बुतस्स भिक्खुनो अनुपादा पुनब्भवो न होति ॥

७१. तदाहं भिक्खवे नेव आगतिं वदामि न गतिं न ठितिं न चुतिं न उपपत्तिं। अप्पतिट्ठं अपावत्तं अनारंभणमेव तं एसे' वन्तो दुक्खस्साति।

७३. यस्मा च खो भिक्खवे अत्थि अजातं अभूतं अकतं असंखतं तस्मा जातस्स भूतस्स कतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्ञायति।

(४)

इतिवुत्तकं

११२. सब्बे सब्बाभिभू धीरो सब्बगन्थप्पमोचनो।
फुट्ठस्स परमा सन्ति निब्बानं अकुतोभयं॥
एस सो भगवा बुद्धो एस सीहो अनुत्तरो।
सदेवकस्स लोकस्स ब्रह्मचक्कं पवत्तयि॥

(५)

सुत्तनिपातो

१, १३. यो नाच्चसारी न पच्चसारी सब्बं वितथमिदं ति वीतमोहो।
सो भिक्खु जहाति ओरपारं उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं॥
३, १६. आदीनवं कामगुणेसु दिस्वा एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥
न जच्चा वुसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।
७, २७. कम्मुना वुसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणो॥
११, १२. छन्दरागविरत्तो सो भिक्खु पञ्ञाणवा इध।
अज्झगा अमतं सन्ति निब्बानपदमच्चुतं॥
३२, ३८. पुण्डरीकं यथा वग्गु तोये न उपलिप्पति।
एवं पुञ्ञे च पापे च उभये त्वं न लिप्पसि॥
३५, ४३. यो थ पुञ्ञं च पापं च उभो संगं उपच्चगा।
असोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥
५०, ६. तक्कं च दिट्ठीसु पकप्पयित्वा सच्चं मुसा ति द्वयधम्ममाहु।
६५, ३. निब्बानं इति तं ब्रूमि जरामच्चुपरिक्खयं।

अभिधम्मपिटकं

पुग्गलकथा कथावत्थु अनुलोमपञ्चकं

थेरवादी—पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेना ति ?

पुग्गलवादी—आमन्ता ।

थेर—यो सच्चिकट्ठ परमट्ठो ततो सो पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेना ति ?

पुग्गल—न हे वं वत्तब्बे ।

थेर—आजानाहि निग्गहं—

(१) हञ्चि पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन, तेन वत रे वत्तब्बे यो सच्चिकट्ठ परमट्ठो ततो सो पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेना ति ।

(२) यं तत्थ वदेसि 'वत्तब्बे खो पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन' इति, 'नो च वत्तब्बे यो सच्चिकट्ठ परमट्ठो ततो सो पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन' इति मिच्छा ।

(३) न च वत्तब्बे 'यो सच्चिकट्ठ परमट्ठो ततो सो पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन' इति, नो च वत रे वत्तब्बे 'पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन' इति ।

(४) यं तत्थ वदेसि 'वत्तब्बे खो पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन' इति ।

(५) नो च वत्तब्बे 'यो सच्चिकट्ठ परमट्ठो ततो सो पुग्गलो उपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन' इति मिच्छा ।

पटिकम्मचतुक्कं

पुग्गल—पुग्गलो नूपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेना ति ?

थेर—आमन्ता ।

पुग्गल—यो सच्चिकट्ठ परमट्ठो ततो सो पुग्गलो नूपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेनाति ?

थेर—न हे वं वत्तब्बे ।

पुग्गल—आजानाहि पटिक्कमं—

(१) हञ्चि पुग्गलो नूपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन, तेन वत रे वत्तब्बे यो सच्चिकट्ठ परमट्ठो ततो सो पुग्गलो नूपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन ।

(२) यं तत्थ वदेसि 'वत्तब्बे खो पुग्गलो नूपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन' इति, 'नो च वत्तब्बे यो सच्चिकट्ठ परमट्ठो ततो सो पुग्गलो नूपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन' इति मिच्छा ।

(३) नो चे पन वत्तब्बे 'यो सच्चिकट्ठ परमट्ठो ततो सो पुग्गलो नूपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन' इति, नो चे वत रे वत्तब्बे 'पुग्गलो नूपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन' इति ।

(४) यं तत्थ वदेसि 'वत्तब्बे खो पुग्गलो नूपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन, नो च वत्तब्बे यो सच्चिकट्ठ परमट्ठो ततो सो पुग्गलो नूपलब्भति सच्चिकट्ठ परमट्ठेन' इति मिच्छा ।

उपादापञ्ञत्तानुयोगो

थेर—पुग्गलो संधावति अस्मा लोका परं लोकं परस्मा लोका इमं लोकं ति?

पुग्गल—आमन्ता ।

थेर—सो पुग्गलो संधावति ?

पुग्गल—न हे वं वत्तब्बे ।

थेर—अञ्ञो पुग्गलो संधावति ?

पुग्गल—न हे वं वत्तब्बे ।

थेर—सो च अञ्ञो च पुग्गलो संधावति ?

पुग्गल—न हे वं वत्तब्बे ।

थेर—नेव सो न अञ्ञो पुग्गलो संधावति ?

पुग्गल—न हे वं वत्तब्बे ।

थेर—आजानाहि निग्गहं।

पुग्गल—न वत्तब्बं पुग्गलो संधावति अस्मा लोका परं लोकं परस्मा लोका इमं लोकं ति ?

थेर—आमन्ता।

पुग्गल—ननु वुत्तं भगवता—

'स सत्तक्खत्तु परमं संधावित्वान पुग्गलो।
दुक्खस्सन्तकरो होति सब्बसंयोजनक्खया॥' इति ?

(इतिवुत्तकं, २४)

थेर—आमन्ता।

पुग्गल—तेन हि पुग्गलो संधावतीति।

थेर—स चेहि संधावति स्वेव पुग्गलो इतो चुतो परं लोकं अनञ्ञो हि एवं मरणं न हेहिति। पाणातिपातो नूपलब्भति। कम्मं अत्थि ? कम्मविपाको अत्थि ? कतानं कम्मानं विपाको अत्थि ?

पुग्गल—आमन्ता।

थेर—कुसलाकुसले विपच्चमाने स्वेव सन्धावतीति मिच्छा।

थेर—स्वेव पुग्गलो सन्धावति ?

पुग्गल—आमन्ता।

थेर—सवेदनो ससञ्ञो ससंखारो सविञ्ञाणो सन्धावति ?

पुग्गल—आमन्ता।

थेर—तं जीवं तं सरीरं ति ?

पुग्गल—न हे वं वत्तब्बे।

थेर—आजानाहि निग्गहं—

खन्धेसु भिज्जमानेसु सो चे भिज्जति पुग्गलो।
उच्छेदा भवति दिट्ठि या बुद्धेन विवज्जिता॥
खन्धेसु भिज्जमानेसु नो चे भिज्जति पुग्गलो;
पुग्गलो सस्सतो होति निब्बानेन समसमो॥

बुद्धघोषः

अट्ठकथा

तत्थ सम्मुतिसच्चं परमत्थसच्चं ति द्वे सच्चानि। ये पन एवमकत्वा सच्चं ति वचनसामान्येन सम्मुतिञ्ञाणमपि सच्चारम्भणमेवाति वदन्ति (न ते परमत्थं जानन्ति।)

एवं समुप्पन्नमिदं सहेतुकं दुक्खं अनिच्चं चलमित्तर' द्धुवं।
धम्मेहि धम्मा पभवन्ति हेतुसो न हेत्थ अत्ताव परो च विज्जति॥
धम्मा धम्मे संजनयन्ति हेतुसम्भारपच्चया।
हेतूनं च निरोधाय धम्मो बुद्धेन देसितो॥
हेतूसु उपरुद्धेसु छिन्नं वट्टं न वट्टति।
एवं दुक्खन्तकिरियाय ब्रह्मचरियीध विज्जति।
सत्ते च नूपलम्भन्ते नेवुच्छेदो न सस्सतं॥

मिलिन्दपञ्हो

१,१४०. योनकानं राजा मिलिन्दो एतदवोचत्—तुच्छो बत भो जम्बुदीपो। पलापो बत भो जम्बुदीपो। नत्थि कोचि समणो वा ब्राह्मणो वा यो मया सद्धिं सल्लपितुं सक्कोति कंखं पटिविनोदेतुं इति।

१, ४४, अत्थि महाराज नागसेनो नाम थेरो पण्डितो मेधावी। उस्सहति सो तया सद्धिं सल्लपितुं कंखं पटिविनोदेतुं इति।

२, १-२. अथ खो मिलिन्दो राजा आयस्मन्तं नागसेनं एतदवोच—किंनामोसि भन्ते ति। नागसेनो ति खो मं महाराज सब्रह्मचारी समुदाचरन्ति। न हे त्थ पुग्गलो उपलब्भती ति।

स चे भन्ते नागसेन को सीलं रक्खति? को भावनामनुयुञ्जति? को मग्गफलनिब्बानानि सच्छिकरोति? तस्मा नत्थि कुसलं नत्थि अकुसलं। तुम्हाकं पि भन्ते नत्थि आचरियो नत्थि उपज्झायो नत्थि उपसम्पदा। कतमो एत्थ नागसेनो? किं नु खो भन्ते केसा नागसेनो? नहि महाराज। लोमा नागसेनो? नहि महाराज। नखा दन्ता तचो मंसं नहारु अट्ठि मिञ्जा लोहितं मेदो वसा नागसेनो? नहि महाराज। किं नु खो भन्ते रूपं वा वेदना वा सञ्ञा वा संखारा वा विञ्ञाणं वा

नागसेनो ? नहि महाराज। किं पन भन्ते रूपवेदनासञ्ञासंखारविञ्ञाणं नागसेनो ? नहि महाराज। किं पन भन्ते अञ्ञत्र रूपवेदनासञ्ञासंखार-विञ्ञाणं नागसेनो ? नहि महाराज तमहं भन्ते पुच्छन्तो पुच्छन्तो न पस्सामि नागसेनं।

२, ३ अथ खो आयस्मा नागसेनो मिलिन्दं राजानं एतदवोच-किं नु खो त्वं पादेनागतोसि उदाहु वाहनेन ? रथेनाहं भन्ते आगतोस्मि। स चे त्वं महाराज रथं मे आरोचेहि। किं नु खो महाराज ईसा रथो ? नहि भन्ते। अक्खो रथो ? नहि भन्ते। चक्कानि रथो ? नहि भन्ते। रथपञ्जरं रथो ? नहि भन्ते। युगं रथो ? नहि भन्ते। रस्मियो रथो ? नहि भन्ते। किं नु खो महाराज ईसाअक्खचक्करथपंजरयुगरस्मिपतोदं रथो ? नहि भन्ते। किं पन महाराज अञ्ञत्र रथो ? नहि भन्ते। तमहं महाराज पुच्छन्तो पुच्छन्तो न पस्सामि रथं। अलिकं त्वं महाराज भाससि मुसावादं नत्थि रथो।

नाहं भन्ते नागसेन मुसा भणामि। ईसं च पटिच्च, अक्खं च पटिच्च, चक्कानि रथपञ्जरं च पटिच्च रथो' ति संखा समञ्ञा पञ्ञत्ति वोहारो नाममत्तं पवत्ततीति।

साधु खो त्वं महाराज रथं जानासि। एवमेव खो महाराज मय्हम्पि केसे च पटिच्च, लोमे च पटिच्च, रूपं वेदनं सञ्ञं संखारे विञ्ञाणं च पटिच्च नागसेनो' ति संखा समञ्ञा पञ्ञत्ति वोहारो नाममत्तं पवत्तति। परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति।

२, १२ राजा आह-किमत्थिका भन्ते नागसेन तुम्हाकं पब्बज्जा को च तुम्हाकं परमत्थो' ति ? थेरो आह-किं ति महाराज इदं दुक्खं निरुज्झेय्य, अञ्ञं च दुक्खं न उप्पज्जेय्या' ति। एतदत्था महाराज अम्हाकं पब्बज्जा। अनुपादा परिनिब्बानं खो पन अम्हाकं परमत्थो' ति।

२, १३ भन्ते नागसेन अत्थि कोचि मतो न पटिसन्दहतीति ? थेरो आह-सकिलेसो महाराज पटिसन्दहति, निक्किलेसो नप्पटिसन्दहति।

२, १५ किं लक्खणो भन्ते मनसिकारो किं लक्खणा पञ्ञा' ति ? ऊहनलक्खणो खो महाराज मनसिकारो, छेदनलक्खणा पञ्ञा' ति। यथा महाराज यवलावका वामेन हत्थेन यवकलापं गहेत्वा दक्खिणेन हत्थेन

दात्तं गहेत्वा यवं छिन्दन्ति एवमेव खो महाराज योगावचरो मनसिकारेण मानसं गहेत्वा पञ्ञाय किलेसे छिन्दति।

२, २३ अपि च ओभासनलक्खणा पञ्ञा। पञ्ञा महाराज उप्पज्जमाना अविज्जन्धकारं विधमेति, विज्जाभासं जनेति, ञाणालोकं विदंसेति, अरियसच्चानि पाकटानि करोति। ततो योगावचरो अनिच्चं' ति वा दुक्खं' ति वा सम्मप्पञ्ञाय पस्सति।

२, २२ ये केचि कुसला धम्मा सब्बे ते समाधिपमुखा। भासितं पेतं भगवता-'समाधिं भिक्खवे भावेथ। समाहितो यथाभूतं पजानाति' इति।

२, २५ भन्ते नागसेन यो उप्पज्जति सो उदाहु अञ्ञो'ति? थेरो आह—न च सो न च अञ्ञो'ति। अहञ्ञेव खो महाराज दहरो अहोसिं तरुणो मन्दो उत्तानसेय्यको, अहञ्ञेव एतरहि महन्तो, इमञ्ञेव कायं निस्साय सब्बे ते एकसंगहिता'ति। यथा महाराज कोचिदेव पुरिसो पदीपं पदीपेय्य, कि सो सब्बरत्तिं दीपेय्य? किं नु खो या पुरिमे यामे अच्चि सा मज्झिमे यामे अच्चि? न हि भन्ते। या मज्झिमे यामे अच्चि सा पच्छिमे यामे अच्चि? न हि भन्ते। किं नु खो महाराज अञ्ञो सो अहोसि पुरिमे यामे पदीपो अञ्ञो मज्झिमे यामे पदीपो अञ्ञो पच्छिमे यामे पदीपो'ति? नहि भन्ते। तञ्ञेव निस्साय सब्बरत्तिं पदीपितो'ति। एवमेव खो महाराज धम्मसन्तति सन्दहति, अञ्ञो उपज्जति, अञ्ञो निरुज्झति, अपुब्बं अचरिमं विय संदहति, तेन न च सो न च अञ्ञो पुरिमविञ्ञाणं पच्छिमविञ्ञाणं संगहं गच्छतीति। यथा महाराज खीरतो दधि, दधितो नवनीतं, नवनीततो घतं'ति।

२, २६ नत्थि महाराज अरहतो अनुनयो वा पटिघो वा। न च अरहन्तो अपक्कं पातेन्ति। परिपाकं आगमेन्ति। भासितं पेतं महाराज थेरेन सारिपुत्तेन धम्मसेनापतिना—

'नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं।
कालं च पटिकंखामि सम्पजानो पटिस्सतो॥' इति।

२, ३१ नामरूपं खो महाराज पटिसन्दहति। इमिना नामरूपेन कम्मं करोति सोभनं वा पापकं वा, तेन कम्मेन अञ्ञं नामरूपं पटिसन्दहति।

यथा महाराज कोचिदेव पुरिसो अञ्ञतरस्स पुरिसस्स अम्बं अवहरेय्य सो एवं वदेय्य—नाहं इमस्स अम्बे अवहरामि। अञ्ञे ते अम्बा ये इमिना रोपिता, अञ्ञे ते अम्बा ये मया अवहटा। अपि सो पुरिसो दण्डपत्तो भवेय्य।

२, ३३ महाराज ओळारिकं एतं रूपं, ये सुखुमा चित्तचेतसिका धम्मा एतं नाम'न्ति। उभो ते अञ्ञमञ्ञूपनिस्सिता॥ यथा महाराज कुक्कुटिया कललं न भवेय्य अण्डं पि न भवेय्य। यथा महाराज बीजं न भवेय्य अंकुरो पि न भवेय्य इति।

२, ३५ महाराज अतीतस्स अनागतस्स पच्चुप्पन्नस्स अद्धानस्स अविज्जा मूलं। एतस्स पुरिमा कोटि न पञ्ञायति।

४, ६३–८२ भन्ते नागसेन किं एकन्तसुखं निब्बानं, उदाहु दुक्खेन मिस्सं ति? एकान्तसुखं महाराज निब्बानं दुक्खेन अमिस्सं। यथा महाराज अत्थिधम्मे एव महासमुद्दे न सक्का उदकं परिगणेतुं, एवमेव खो महाराज अत्थिधम्मस्सेव निब्बानस्स न सक्का रूपं वा सण्ठानं वा वयं वा पमाणं वा ओपम्मेन वा कारणेन वा हेतुना वा नयेन वा उपदस्सयितुं। सरूपतो महाराज नत्थि (उपदस्सयितुं), गुणतो पन महाराज सक्का किंचि उपदस्सयितुं। यथा महाराज पदुमं अनुपलित्तं उदकेन, एवमेव खो महाराज निब्बानं सब्बकिलेसेहि अनुपलित्तं। उदकं इव महाराज निब्बानं सीतलं सब्बकिलेसपरिळाहनिब्बापनं कामतण्हाभवतण्हाविभवतण्हापिपासाविनयनं च। निब्बानं च महाराज महासमुद्दं इव महन्तं अनोरपारं अरहन्तानं खीणासवानं आवासो। गिरिसिखरं इव महाराज निब्बानं अच्चुग्गतं अचलं दुरधिरोहं। निब्बानं न अतीतं न अनागतं न पच्चुप्पन्नं न उप्पन्नं न अनुप्पन्नं न उप्पादनीयं। अत्थे सा महाराज निब्बानधातु सन्ता सुखा पणीता तं सम्मापटिपन्नो जिनानुसिट्ठिया संखारे सम्मसन्तो पञ्ञाय सच्छिकरोति। अनीतितो निरुपद्दवतो अभयतो खेमतो सन्ततो सुखतो साततो पणीततो सुचितो सीतलतो निब्बानं दट्ठब्बम्।

द्वितीयः परिच्छेदः

महायानवैपुल्यसूत्राणि

(१)

ललितविस्तरसूत्रम्

ज्ञानोदधिं शुद्धमहानुभावं धर्मेश्वरं सर्वविदं मुनीशम् ।
प्रशान्तकायं नरदेवपूज्यं मुनिं समाश्लिष्यत शाक्यसिंहम् ॥
आलोकभूतं तमतुल्यधर्मं तमोनुदं सन्नयवेदितारम् ।
शान्तक्रियं बुद्धमसेयबुद्धिं भक्त्या समस्ता उपसंक्रमध्वम् ॥
स वैद्यराजोऽमृतभैषजप्रदः स वादिशूरः कुगणिप्रतापकः ।
स धर्मबन्धुः परमार्थकोविदः स नायकोऽनुत्तरमार्गदेशकः ॥

स सद्धर्मं देशयति स्म । आदौ कल्याणं मध्ये कल्याणं पर्यवसाने कल्याणं स्वर्थं सुव्यञ्जनं केवलं परिपूर्णं परिशुद्धं पर्यवदातं ब्रह्मचर्यं संप्रकाशयति स्म ।

इदं तथागतो विज्ञापयति । श्रद्धायामानन्द ! योगः करणीयः । ये केचिन्न् मम श्रद्धास्यन्ति तानहमुपाददामि । मित्राणीव ते मम शरणं गताः ।

देवातिदेव अहु उत्तमु सर्वदेवैः देवो न मेऽस्ति सदृशः कुत उत्तरो वा ?
ज्वलितं त्रिभवं जरव्याधिदुखैः मरणाग्निप्रदीप्तमनाथमिदम् ।
गिरिनद्यसमं लघुशीघ्रजवं व्रजतायु जगे यथ विद्यु नभे ॥
सभया सुपिना सद वैरकरा बहुशोकउपद्रव कामगुणाः ।
असिधारसमा विषपत्रिनिभा त्यणिका अलिका विदितार्यजनैः ॥
धिग् यौवनेन जरया समभिद्रुतेन आरोग्य धिग् विविधव्याधिपराहतेन ।
धिग् जीवितेन विदुषो न चिरस्थितेन धिक् पण्डितस्य पुरुषस्य रतिप्रसङ्गैः ॥
(तथागतस्तु—)
अवाप्य बोधिं अजरामरं पदं तर्पिष्यते धर्मजलैरिमां प्रजाम् ।
स्वयं तरित्वा च अनन्तकं जगत् स्थले स्थपिष्ये अजरामरे शिवे ॥

(इमां प्रजां) संसारसागरात् पारमुत्तार्य अनुत्तरे क्षेमे अभये

अशोके निरुपद्रवे शिवे विरजसे अमृते धर्मधातौ प्रतिष्ठापयिष्यति।

अथ खलु भगवान् बोधिवृक्षमूले प्रथमाभिसम्बुद्धः। अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं, विज्ञानप्रत्यये नामरूपे, नामरूपप्रत्ययानि षडायतनानि, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेदनाप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादानं, उपादानप्रत्ययो भवः, भवप्रत्यया जातिः, जातिप्रत्यये जरामरणे इत्येवमस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति। अविद्यानिरोधात् संस्कारनिरोधः, संस्कारनिरोधाद् विज्ञाननिरोधः, विज्ञाननिरोधान्नामरूपनिरोधः, नामरूपनिरोधात् षडायतननिरोधः, षडायतननिरोधात् स्पर्शनिरोधः, स्पर्शनिरोधात् वेदनानिरोधः, वेदनानिरोधात् तृष्णानिरोधः, तृष्णानिरोधादुपादाननिरोधः, उपादाननिरोधाद्भवनिरोधः, भवनिरोधाज्जातिनिरोधः, जातिनिरोधाज्जरामरणनिरोधः इत्येवमस्य महतो दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति। दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत् तथागतेनाभिसम्बुद्धा। इयमेवार्याष्टाङ्गिको मार्गः—सम्यक् दृष्टिः, सम्यक् संकल्पः, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्तः, सम्यगाजीवः, सम्यग्व्यायामः, सम्यक् स्मृतिः, सम्यक् समाधिश्चेति। इमानि खलु भिक्षवश्चत्वारि आर्यसत्यानि—यदिदं दुःखमार्यसत्यम्, अयञ्च दुःखसमुदय आर्यसत्यम्, अयञ्च दुःखनिरोध आर्यसत्यम्, इयञ्च दुःखनिरोधगामिनी मध्यमा प्रतिपदार्यसत्यम्।

गम्भीरः खल्वयं मया धर्मोऽभिसम्बुद्धः प्रशान्तः सूक्ष्मो निपुणो दुरनुबोधः अतर्को विरागः पण्डितवेदनीयो दुर्दृश्यः सर्वसंस्कारोपशमः परमार्थोऽनभिलप्यो निर्वाणम्।

(२)

अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्रम्

आकाशमिव निर्लेपां निष्प्रपञ्चां निरक्षराम्।
यस्त्वां पश्यति भावेन स पश्यति तथागतम्॥
त्वां प्राप्य प्रलयं यान्ति दोषा वादाश्च वादिनाम्।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः॥
व्यवहारं पुरस्कृत्य प्रज्ञप्त्यर्थं शरीरिणाम्।
कृपया लोकनाथैस्त्वमुच्यसे नहि चोच्यसे॥

बोधिसत्वो न रूपे चरति न रूपनिमित्ते चरति न रूपं निमित्तमिति चरति न रूपस्य निरोधे चरति न रूपस्य विनाशे चरति न रूपं शून्यमिति चरति नाहं बोधिसत्व इति चरति। एवं न वेदनायां न संज्ञायां न संस्कारेषु न विज्ञाने न सर्वधर्मेषु चरति। य एवं चरति स प्रज्ञापारमितायां चरति। स हि चरन् चरामीति नोपैति, न चरामीति नोपैति, चरामि च न चरामि चेति नोपैति, नैव चरामि न चरामीति नोपैति। तत्कस्य हेतोः नोपैति ? सर्वधर्मा ह्यनुपगता अनुत्पन्नाः।

सर्वधर्मा अपि मायोपमाः स्वप्नोपमाः। सम्यक्सम्बुद्धोपि मायोपमः। निर्वाणमपि मायोपमं स्वप्नोपममिति वदामि किं पुनरन्यद्धर्मम्। यदि निर्वाणादप्यन्यः कश्चिद्धर्मो विशिष्टतरः स्यात् तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपममिति वदेयम्।

स चेत् तथागतोऽर्हन् सम्यक्सम्बुद्धोऽनन्तविज्ञप्तिघोषेण गम्भीरनिर्घोषेण स्वरेण गङ्गानदीबालुकोपमान् कल्पानपि वितिष्ठमानः सत्वः सत्व इति वाचं भाषेत अपि न तत्र कश्चित् सत्व उत्पन्नो वा उत्पत्स्यते वा उत्पद्यते वा निरुद्धो वा निरोत्स्यते वा निरुध्यते वा, आदिपरिशुद्धत्वात् सत्वस्य।

न च स कश्चित् सत्वो यः परिनिवृतो येन च परिनिर्वापितो भवति। धर्मतैषा सुभूते ! धर्माणां मायाधर्मतामुपादाय स्यात्।

विग्रहा विवादा विरोधाः प्रज्ञापारमितायास्तेजसा बलेन क्षिप्रमेवोपरंस्यन्ति उपशमिष्यन्ति। यावन्ति खलु पुनः सुभूते ! निमित्तानि तावन्तः सङ्गाः। निमित्ततो हि सुभूते ! सङ्गः। या च सर्वधर्माणां प्रकृतिविविक्तता सा प्रज्ञापारमिता। अकृताः सर्वधर्माः तथागतेनाभिसम्बुद्धाः। एवमेताः सर्वाः सङ्गकोट्यो विवर्जिता भवन्ति।

सर्वं हि संस्कृतमनित्यं सर्वं भयावगतं दुःखं, सर्वं त्रैधातुकं शून्यं, सर्वधर्मा अनात्मानस्तदेवं सर्वमशाश्वतमनित्यं दुःखं विदित्वा पंडितैरिहैव स्रोतसापत्तिफलं सकृदागामिफलं अर्हत्वं इहैव प्राप्तव्यम्।

यथा सुभूते ! महासमुद्रगतायां नावि भिन्नायां ये तत्र काष्ठं वा फलकं वा मृतशरीरं वा न गृह्णन्ति नाध्यालम्बन्ते वेदितव्यमेतत् अप्राप्ता एवैते पारमुदके कालं करिष्यन्तीति। ये खलु गृह्णन्ति ते पारमुत्तरिष्यन्ति

अव्रताश्च स्थले स्थास्यन्तीति। एवमेव सुभूते। यो बोधिसत्वः प्रज्ञापारमितां नाध्यालम्बते वेदितव्यमेतत् सुभूते! अन्तरे वैष अध्वनि व्यवसादमापत्स्यते अप्राप्त एव सर्वज्ञतां श्रावकत्वे प्रत्येकबुद्धत्वे वा स्थास्यतीति। ये आलम्बन्ते ते च प्रज्ञापारमितां प्राप्य सर्वज्ञतायां स्थास्यन्ति चानुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसंभोत्स्यन्ति। यथा चापरिपक्वेन घटेनोदकं परिवहेत् क्षिप्रमेव घटः प्रविलेष्यते, सुपरिपक्वेन घटेनोदकं परिवहतो घटो गृहं गमिष्यतीति (तथैव सुपरिपक्वप्रज्ञापारमिताश्रयेण बोधिसत्वः कृतकृत्यो भवतीति।)

सर्वधर्माणां धर्मता अनभिलप्या। सर्वधर्मा अपि अनभिलप्याः। या च सुभूते! सर्वधर्माणां शून्यता न सा शक्याऽभिलपितुम्। यः प्रज्ञापारमितायां चरति स परमार्थे चरति न निमित्ते चरति। गम्भीरोऽयं प्रतीत्यसमुत्पादः। सर्वधर्माश्च नाममात्रेण व्यवहारमात्रेण अभिलप्यन्ते। सर्वधर्माः नागच्छन्ति न गच्छन्ति न रज्यन्ते न विरज्यन्ते असक्ताः संगासंगविगताः ब्रह्मभूताः। या च शून्यता स तथागतः। तथागताः न गताः नागताः। सर्वधर्मा असंक्लेशा अव्यवदानाः स्वभावेन शून्या इति प्रज्ञापारमिताऽनुगन्तव्या।

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्। तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः।

(३)

शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्रम्

या सर्वज्ञतया नयत्युपशमं शान्त्यैषिणः श्रावकान्
या मार्गज्ञतया जगद्धितकृतालोकार्थसम्प्रापिका।
सर्वाकारमिदं वदन्ति मुनयो विश्वं यया सङ्गतम्
तस्यै श्रावकबोधिसत्वगणिनो बुद्धस्य मात्रे नमः॥

त्रीणि रत्नानि बुद्धो धर्मः सङ्घश्चेति। चत्वार्यार्यसत्यानि दुःखं समुदयो निरोधो मार्गश्चेति। पञ्चस्कन्धाः रूपं वेदना संज्ञा संस्काराः विज्ञानं चेति। षट्पारमिताः दानं शीलं क्षान्तिः वीर्यं ध्यानं प्रज्ञा चेति।

मैत्री करुणा मुदितोपेक्षा चेति।

चत्वारो ब्रह्मविहाराः मैत्री करुणा मुदितोपेक्षा चेति।

चत्वारि ध्यानानि प्रथमं ध्यानं वितर्को विचारः प्रीतिः सुखं चित्तैकाग्रतेति पञ्चाङ्गम्। द्वितीयं ध्यानं आत्मसम्प्रसादः प्रीतिः सुखं चित्तैकाग्रतेति चतुरंगम्। तृतीयं ध्यानं उपेक्षा स्मृतिः सम्प्रजन्यं सुखं चित्तैकाग्रतेति पञ्चाङ्गम्। चतुर्थं ध्यानं उपेक्षा परिशुद्धिः स्मृतिःअदुःखासुखा वेदना चित्तैकाग्रता चेति चतुरंगम्।

विविक्तं कामैर्विविक्तं पापकैरकुशलैर्धर्मैः सवितर्कं सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं प्रथमं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। सवितर्कसविचाराणां व्युपशमात् अध्यात्मसम्प्रसादात् चेतस एकोतिभावात् अवितर्कं अविचारं समाधिजं प्रीतिसुखं द्वितीयं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। प्रीतेर्विरागादुपेक्षकः स्मृतिमान् सुखविहारी निष्प्रीतिकं तृतीयं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। सुखस्य च प्रहाणाद्दुःखस्य च प्रहाणात् पूर्वमेव च सौमनस्यदौर्मनस्ययोरस्तंगमाद्‌ अदुःखासुखं उपेक्षास्मृतिपरिशुद्धं चतुर्थं ध्यानमुपसंपद्य विहरति।

त्रयः समाधयः शून्यतासमाधिरानिमित्तसमाधिरप्रणिहितसमाधिश्च। स्वलक्षणशून्यान् सर्वधर्मान् प्रत्यवेक्षमाणस्य या चित्तस्य स्थितिः शून्यता विमोक्षसुखमयमुच्यते शून्यतासमाधिः। आनिमित्तान् सर्वधर्मान् प्रत्यवेक्षमाणस्य या चित्तस्य स्थितिरानिमित्तविमोक्षसुखमयमुच्यते आनिमित्तः समाधिः। सर्वधर्मा अनभिसंस्कारा इत्यनभिसंस्कुर्वतो या चित्तस्य स्थितिरप्रणिहितविमोक्षसुखमयमुच्यतेऽप्रणिहितः समाधिः।

शून्याः सर्वधर्माः मायोपमा अनुत्पन्ना अनिरुद्धाः। न हानिर्न वृद्धिर्न संक्लेशो न व्यवदानम्। न सर्वधर्मशून्यतां भाव इति नाभाव इति योजयति न नित्येति नानित्येति न सुखमिति न दुःखमिति नोत्पाद इति न निरोध इति न शून्य इति नाशून्य इति योजयति।

यश्च प्रज्ञप्तिधर्म तस्य नोत्पादो न निरोधोऽन्यत्र संज्ञासंकेतमात्रेण व्यवह्रियते। नामरूपमेव शून्यता शून्यतैव नामरूपम्। रूपमेव माया मायैव रूपम्। मायायाः पदं न विद्यते। सर्वमेतद्द्वयमद्वैधीकारम्।

(४)

दशभूमिकसूत्रम्

यस्मिन् पारमिता दशोत्तमगुणास्तैस्तैर्नयैः सूचिताः(१)
सर्वज्ञेन जगद्धिताय दश च प्रख्यापिता भूमयः ।
उच्छेदध्रुववर्जिता च विमला प्रोक्ता गतिर्मध्यमा
तत्सूत्रं दशभूमिकं निगदितं शृण्वन्तु बोध्यर्थिनः ॥

प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती, धर्ममेघा च नाम बोधिसत्वभूमयः दशेमाः ।

प्रमुदितायां बोधिसत्वभूमौ स्थितो बोधिसत्वः प्रामोद्यबहुलो भवति प्रसादबहुलोऽविहिंसाबहुलः प्रीतिबहुल उदग्रीबहुल उत्साहबहुलोऽक्रोधबहुलो भवति । व्यावृत्तोऽस्मि सर्वजगद्विषयादवतीर्णोऽस्मि बुद्धभूमिसमीपमिति प्रामोद्यमुत्पादयति ।

विमलायां बोधिसत्वभूमौ स्थितो बोधिसत्वः प्रकृत्यैव दशभिः कुशलैः कर्मपथैः(२) समन्वागतो भवति । सम्यग्दृष्टिः खलु पुनर्भवति ।

बोधिसत्वस्तृतीयायां (प्रभाकर्यां) बोधिसत्वभूमौ स्थितोऽनित्यतां सर्वसंस्कारगतस्य यथाभूतं प्रत्यवेक्षते दुःखतां चाशुभताञ्च क्षणिकोत्पादनिरोधताञ्च । भूयस्या मात्रया सर्वसंस्कारेभ्यश्चित्तमुच्चालयति तथागतज्ञाने च संप्रेषयति । मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षासहगतेन चित्तेन भवति । दृष्टिकृतबन्धनानि च पूर्वमेव प्रहीणानि भवन्ति ।

अर्चिष्मत्यां स्थितस्य सत्कायदृष्टिपूर्वंगमानि आत्मसत्वजीवपुरुष-

---

(१) प्रायेण षडेव पारमिता उल्लिखिताः । क्वचिच्च दशेति यथाऽत्र । दानशीलक्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञापारमिताः षट् । येषां मते दश ते उपायप्रणिधिबलज्ञानपारमिताः चतस्रश्चाधिकं गणयन्ति । अन्ये तु उपायस्य दानशीलक्षान्तिषु प्रणिधेर्ध्याने बलस्य वीर्ये ज्ञानस्य च प्रज्ञायामन्तर्भावात् षडेव ता इति वदन्ति ।

(२) अहिंसा चौर्यविरतिः परदारविवर्जनम् । मिथ्यापैशुन्यपारुष्याबद्धवादेषु संयमः ॥ लोभव्यापादनास्तिकदृष्टीनां परिवर्जनम् । एते कर्मपथाः शुक्ला दश कृष्णा विपर्ययात् ॥ रत्नावली ८-९.

पुद्गलस्कन्धधात्वायतनाभिनिवेशसमुच्छ्रितानि वितर्काणि सर्वाणि विगतानि भवन्ति।

सुदुर्जयायां स्थित आर्यसत्यानि यथाभूतं प्रजानाति। संवृतिसत्यकुशलः परमार्थसत्यकुशलश्च भवति। सर्वं संस्कृतं रिक्तं तुच्छं मृषा मोषधर्मा विसंवादकं बालालापनमिति यथाभूतं प्रजानाति।

अभिमुख्यां स्थितो यावत्यो लोकसमुदाचारोपपत्तयः सर्वास्ताः आत्माभिनिवेशतो भवन्तीति जानाति। प्रतीत्यसमुत्पादं यथाभूतं प्रत्यवेक्षते। चित्तमात्रमिदं यदिदं त्रैधातुकम्। तस्य भूयस्या मात्रया महाकरुणा अभिमुखी भवति। प्रज्ञापारमिताप्राप्तो भवति।

दूरंगमायां स्थितः शून्यतानैरात्म्ययुक्तो भवति। न च कंचिद्धर्मं अभिनिविशते। अस्य दश पारमिताः क्षणे क्षणे परिपूर्यन्ते। एवं चत्वारि संग्रहवस्तूनि (१) सर्वबोध्यङ्गकाः धर्माः क्षणे क्षणे परिपूर्यन्ते। तस्य कर्म निमित्तापगतं प्रवर्तते।

अचलायां स्थितः सर्वधर्माणामजातताञ्चालक्षणताञ्चाविनाशिताञ्च यथाभूतामवतरति। सर्वधर्मसमताप्राप्तो भवति। धर्मधातौ विचरति।

साधुमत्यां स्थितः कुशलाकुशलाऽव्याकृतधर्माभिसंस्कारञ्च यथाभूतं प्रजानाति। बोधिसत्ववाचा धर्मं देशयति। तथागतधर्मकोशं रक्षति। समाहितस्तथागतदर्शनं न विजहाति। भूयस्या मात्रया रात्रिं दिवं गम्भीरबोधिसत्वविमोक्षानुप्राप्तो भवति।

धर्ममेघायां सर्वाकारसर्वज्ञज्ञानाभिषेकभूमिप्राप्तो भवति। सर्वान् समाधीन् समापद्यते। तद्यथापि नाम भो जिनपुत्राः! यो राज्ञः चक्रवर्तिनः पुत्रो ज्येष्ठः कुमारः राजा तं कुमारं दिव्ये भद्रपीठे निषाद्य चतुर्भ्यो महासमुद्रेभ्य वारि आनीय महता पुष्पधूपगन्धदीपमाल्यविलेपनचूर्णचामरछत्रध्वजपताकातूर्यसंगीतिव्यूहेन सौवर्णं भृङ्गारं गृहीत्वा तेन वारिणा तं कुमारं मूर्धन्यभिषिञ्चति एवमेव भो जिनपुत्राः! बोधिसत्वो महासत्वस्तैर्बुद्धैर्भगवद्भिः महाज्ञानाभिषेकाभिषिक्तोऽप्रमेयगुणज्ञानविवर्धितो धर्ममेघायां बोधिसत्वभूमौ प्रतिष्ठित इत्युच्यते।

१. दानं प्रियवचनमर्थचर्या समानार्थता चेति।

(५)

लङ्कावतारसूत्रम्

नैरात्म्यं यत्र धर्माणां धर्मराजेन देशितम्।
लङ्कावतारं तत्सूत्रमिह यत्नेन लिख्यते॥
उत्पादभङ्गरहितो लोकः खपुष्पसन्निभः।
सदसन्नोपलब्धस्ते प्रज्ञया कृपया च ते॥ २।१
मायोपमाः सर्वधर्माश्चित्तविज्ञानवर्जिताः।
सदसन्नोपलब्धास्ते प्रज्ञया कृपया च ते॥ २, २
धर्मपुद्गलनैरात्म्यं क्लेशज्ञेयञ्च ते सदा।
विशुद्ध आनिमित्तेन प्रज्ञया कृपया च ते॥ २, ६

तद्यथा महामते! मृत्परमाणुभ्यो मृत्पिण्डो न चान्यो नानन्यः यथा च भूषणं सुवर्णात् एवमेव महामते! प्रवृत्तिविज्ञानानि आलयविज्ञानात् न चान्यानि न नानन्यानि। यदि अन्यानि स्युरनालयविज्ञानहेतुकानि स्युः। अथानन्यानि प्रवृत्तिविज्ञाननिरोध आलयविज्ञाननिरोधः स्यात्।

तरङ्गा ह्युदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययेरिताः।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते॥ २, ९९
आलयौघस्तथा नित्यो विषयपवनेरितः।
चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैर्नृत्यमानः प्रवर्तते॥ २, १००
न चान्याश्च नानन्यास्तरङ्गा ह्युदधेर्मताः।
विज्ञानानि तथा सप्त चित्तेन सह संयुताः॥ २, १०२
चित्तेन चीयते कर्म मनसा च विधीयते।
विज्ञानेन विजानाति दृश्यं कल्पेति पञ्चभिः॥ २, १०६
चित्तं मनश्च विज्ञानं लक्षणार्थं प्रकल्प्यते।
अभिन्नलक्षणा ह्यष्टौ न लक्ष्या न च लक्षणम्॥ २, १०४

तथागतगर्भः पुनर्भगवता प्रकृतिप्रभास्वरः विशुद्ध्यादिविशुद्धः सर्वसत्वदेहान्तर्गतः महार्घरत्नं मलिनवस्तुपरिवेष्टितमिव स्कन्धधात्वायतनवस्तुपरिवेष्टितो रागद्वेषमहाभूतपरिकल्पमलमलिन इव नित्यो ध्रुवः

शिवः शाश्वतश्च वर्णितः । तत् कथमयं भगवन् ! तीर्थकरात्मवादतुल्यस्त-थागतगर्भवादो न भवति ? तीर्थकरा अपि भगवन् ! नित्यः कर्ता निर्गुणो विभुरव्यय इति आत्मवादोपदेशं कुर्वन्ति । भगवानाह न हि महामते ! तीर्थकरात्मवादतुल्यो मम तथागतगर्भोपदेशः । तथागता अर्हन्तः सम्यक् सम्बुद्धा बालानां नैरात्म्यसंत्रासपदविवर्जनार्थं निर्विकल्पं निराभासप्रज्ञा-गोचरं तथागतगर्भं सुखोपदेशेन देशयन्ति । न चात्र महामते ! बोधि-सत्वैः आत्माभिनिवेशः कर्तव्यः । परमार्थस्तु महामते ! आर्यज्ञानप्रत्या-त्मगतिगम्यो न वाग्विकल्पबुद्धिगोचरस्तेन विकल्पो नोद्भावयति पर-मार्थम् । महामते ! चतुष्टयविनिर्मुक्ता तथागतानां धर्मदेशना । चातुष्को-टिकं च महामते ! लोकव्यवहारः । यत् सर्वप्रपञ्चातीतं स तथागतः ।

बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते ।
तस्मादनभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः ॥ २, १७५
चित्तं विषयसम्बन्धं ज्ञानं तर्के प्रवर्तते ।
निराभासेऽविशेषे च प्रज्ञा वै संप्रवर्तते ॥ २, १८२

धर्मपुद्गलनैरात्म्यावबोधान् महामते ! आवरणद्वयपरिज्ञानावबोधाच्च च्युतिद्वयाधिगमात् क्लेशद्वयप्रहाणात् च महामते ! बुद्धानां भगवतां बुद्धता भवति ।

याञ्च रात्रिं तथागतोऽभिसम्बुद्धो याञ्च रात्रिं परिनिर्वास्यति अत्रा-न्तरे एकमप्यक्षरं तथागतेन नोदाहृतं न प्रव्याहरिष्यति अवचनं बुद्ध-वचनमिति । योऽक्षरपतितं धर्मं देशयति स प्रलपति निरक्षरत्वाद् धर्मस्येति । सर्वप्रपञ्चोपशमं तत्त्वमित्युच्यते । निरक्षरत्वात् तत्त्वस्य । अंगुल्या कश्चित् कस्यचित् किंचित् आदर्शयेत् स च बालः अंगुल्यग्रमेव प्रतिसरेद्वीक्षितुम् ।

अंगुल्यग्रं यथा बालो न गृह्णाति निशाकरम् ।
तथा ह्यक्षरसंसक्तास्तत्त्वं न वेत्ति मामकम् ॥ ६, ३

वरं खलु सुमेरुमात्रा पुद्गलदृष्टिर्न त्वेव नास्त्यस्तित्वाभिमानिकस्य शून्यतादृष्टिः । नास्त्यस्तित्वाभिमानिको हि महामते ! वैनाशिको भवति ।

न सन्नासन्न सदसद्यदा लोकं प्रपश्यति ।
तदा व्यावर्तते चित्तं नैरात्म्यं चाधिगच्छति ॥ ३, २२

विकल्पमात्रं त्रिभवं बाह्यमर्थं न विद्यते ।
चित्तमात्रावतारेण प्रज्ञा ताथागती मता ॥ ३, ४३, ७७

जल्पप्रपञ्चाभिरता हि बालास्तत्त्वे न कुर्वन्ति मतिं विशालाम् ।
जल्पो हि त्रैधातुकदुःखयोनिस्तत्त्वं हि दुःखस्य विनाशहेतुः ॥ ३, ७३

(६)

सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रम्

गम्भीरं शारिपुत्र ! दुर्दृश्यं दुरनुबोधं बुद्धज्ञानं तथागतैरर्हद्भिः प्रतिबुद्धम् । अलं शारिपुत्र ! अनेनार्थेन प्रकाशितेन, उत्त्रसिष्यति शारिपुत्र ! अयं सदेवको लोकोऽस्मिन्नर्थे व्याक्रियमाणेऽभिमानप्राप्ताश्च भिक्षवो महाप्रपातं प्रपतिष्यन्ति । अतर्कोऽतर्कावचरस्तथागतविज्ञेयः शारिपुत्र ! सद्धर्मः।

तथागताः अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धाः बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पायै महतो जनकायस्यार्थाय हिताय सुखाय देवानाञ्च मनुष्याणाञ्च नानानिरुक्तिनिर्देशाभिलापनिर्देशनैः विविधैः उपायकौशल्यैः सद्धर्मं संप्रकाशयन्ति ।

यस्तु शून्यान् विजानाति धर्मानात्मविवर्जितान् ।
सम्बुद्धानां भगवतां बोधिं जानाति तत्त्वतः ॥ ५, ५१
एवं सत्त्वा महाऽज्ञानात् जात्यन्धाः संसरन्ति हि ।
प्रतीत्योत्पादचक्रस्य अज्ञानाद् दुःखधर्मिणः ॥ ५, ५६
यश्च धर्मान् विजानाति मायास्वप्नस्वभावकान् ।
कदलीस्कन्धनिःसारान् प्रतिश्रुत्कासमानकान् ॥ ५, ७६
तत्स्वभावं च जानाति त्रैधातुकमशेषतः ।
अबद्धमविमुक्तञ्च स विजानाति निर्वृतिम् ॥ ५, ८०
सर्वधर्माः समाः सर्वे समाः समसमाः सदा ।
एवं ज्ञात्वा विजानाति निर्वाणममृतं शिवम् ॥ ५, ८२

(७)

समाधिराजसूत्रम्

अनिरुद्धमनुत्पन्नमनाविलमनक्षरम् ।
महायानमहं स्तोष्ये बुद्धज्ञानाभिवाञ्छया ॥

तारकं सर्वसत्वानां घोरात् संसारसागरात् ।
संस्थापकञ्च निर्वाणे शान्ते क्षेमे निरुत्तरे ॥
ज्ञानेन जानाम्यहु स्कन्धशून्यतां ज्ञात्वा च क्लेशेहि न संवसामि ।
व्याहारमात्रेण च व्याहरामि परिनिर्वृतो लोकमिमं चरामि ॥
नीतार्थतो जानति सर्वधर्मान् यथोपदिष्टा सुगतेन शून्यता ।
नेयार्थतो जानति सर्वधर्मान् यस्मिन् पुनः पुद्गल सत्वपूरुषो ॥
आदर्शपृष्ठे यथ तैलपात्रे निरीक्षते नारिमुखं अलंकृतम् ।
सो तत्र रागं जनयित्व बालो प्रधावितो काम गवेषमाणो ॥
मुखस्य संक्रान्ति तदा न विद्यते बिम्बे मुखं नैव कदाचि लभ्यते ।
यथा स मूढो जनयेत रागं तथोपमान् जानथ सर्वधर्मान् ॥
यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपिनं यथैव ।
स्वभावशून्या तु निमित्तभावा तथोपमान् जानथ सर्वधर्मान् ॥
यथा कुमारी सुपिनान्तरेऽस्मिन् स्वपुत्र जातञ्च मृतञ्च पश्यति ।
जातेऽतितुष्टा मृत दौर्मनस्यिता तथोपमान् जानथ सर्वधर्मान् ॥
निवृत्तिधर्माण न अस्तिधर्मा येनेति नास्ति न हि जातु अस्ति ।
अस्तीति नास्तीति च कल्पनावतां एवं चरन्तान न दुःख शाम्यति ॥
अस्तीति नास्तीति उभे पि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति इमे पि अन्ता ।
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा मध्ये पि स्थानं न करोति पण्डितः ॥
अस्तीति नास्तीति विवाद एष शुद्धी अशुद्धीति अयं विवादः ।
विवादप्राप्त्या न दुखं निरुध्यते स्मृतेरुपस्थान कथं कथेत्वा ॥
बहू जनो भाषति स्कन्धशून्यतां न च प्रजानन्ति यथा निरात्मकाः ।
ते अप्रजानन्त परेहि चोदिता क्रोधाभिभूताः परुषं वदन्ति ॥
कियच्चिरं बाल सुसेविता पि पुनोपि ते भोन्ति अमित्रसन्निभाः ।
न विज्ञ बालेहि करोन्ति विग्रहं सत्कृत्य बालान् परिवर्जयन्ति ॥
गृहीत्व भैषज्य पृथूवराणां न सेवते आतुरु येन मुच्यते ।
न वैद्यदोषो न च भैषजानां तस्यैव दोषो भवि आतुरस्य ॥

(८)

सुवर्णप्रभाससूत्रम्

यदा स्रोतःसु गंगायाः रोहेयुः कुसुमानि च ।

तदा सर्षपमात्रं च व्यक्तं धातुर्भविष्यति ॥
यदा शशविषाणेन निःश्रेणी सुदृढा भवेत् ।
स्वर्गस्यारोहणार्थाय तदा धातुर्भविष्यति ॥
धर्मकायो हि सम्बुद्धो धर्मधातुस्तथागतः ।
ईदृशो भगवान् काय ईदृशी धर्मदेशना ॥

शून्या हि ते ते खलु सर्वधर्माः अविद्यतः प्रत्ययसंभवाश्च ।
ज्ञानासिना छिन्दथ क्लेशजालं स्पृशत तं बोधिगुणं ह्युदारम् ॥
वयं हि हन्मो वरधर्मभेरीं आपूरयामो वरधर्मशङ्खम् ।
प्रज्वालयामो वरधर्मउल्काम् सुवर्षयामो वरधर्मवर्षम् ॥

अन्यानि महायानसूत्राणि

(१)

वज्रच्छेदिका

निर्जाता हि सुभूते ! तथागतानां सम्यक्सम्बोधिरतो निर्जाताश्च बुद्धाः भगवन्तः । एष सुभूते ! अनुत्पादः परमार्थः । तथागत इति सुभूते ! उच्यते न क्वचिद् गतो न कुतश्चिदागतः ।

(२)

नैरात्म्यपरिपृच्छा

भ्रमन्ति चक्रवन्मूढा लोकधर्मसमावृताः ।
परमार्थं न जानन्ति भवो यत्र निरुध्यते ॥
अनित्याः सर्वसंस्कारा अध्रुवाः क्षणभंगुराः ।
अतश्च परमार्थज्ञो वर्जयेत् संवृतेः पदम् ॥
स्वर्गस्थाने तु ये देवा गन्धर्वाप्सरसादयः ।
च्युतिरस्ति च सर्वेषां तत् सर्वं संवृतेः फलम् ॥
अतः सर्वमिदं त्यक्त्वा दिव्यं स्वर्गमहासुखम् ।
भावयेत् सततं प्राज्ञो बोधिचित्तं प्रभास्वरम् ॥
निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यं निरालयम् ।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तं बोधिचित्तस्य लक्षणम् ॥

(३)

राष्ट्रपालपरिपृच्छा

नेह माता न पिता न बान्धवा धारयन्ति यतमान दुर्गतिम् ।
यत्कृतं हि मनुजैः शुभाशुभं तत्प्रयान्तमनुयाति पृष्ठतः ॥
ये पापमित्राणि विवर्जयन्ति कल्याणमित्राणि सदा भजन्ति ।
वर्धन्ति ते बोधिपथेषु नित्यं यथ शुक्लपक्षे दिवि चन्द्रमंडलम् ।
बहुकल्पकोटिभिः कदाचि बुद्धो उत्पद्यते लोकहितो महर्षिः ।
लब्धोऽधुना स प्रवरः क्षणोऽद्य त्यज प्रमादं यदि मोक्षकामः ॥
भवचारके जगदवेक्ष्य इदं ह्यनाथं जातीजरामरणशोकहतं रुजार्तम् ।
समुदानयित्व प्रवरां शिवधर्मनावं ते तारयन्ति जनतां भवसागरौघात् ॥

(४)

मञ्जुश्रीपरिपृच्छा

येन मञ्जुश्रीरनुत्पादः सर्वधर्माणां दृष्टस्तेन दुःखं परिज्ञातम् । येन नास्तिता सर्वधर्माणां दृष्टा तस्य समुदयः प्रहीणः । येन अत्यन्तपरिनिर्वृताः सर्वधर्मा दृष्टास्तेन निरोधः साक्षात्कृतः । येन मञ्जुश्रीरभावः सर्वधर्माणां दृष्टस्तेन मार्गो भावितः ।[1]

(५)

शालिस्तम्बसूत्रम्

य इमं प्रतीत्यसमुत्पादं यथाभूतं सम्यक् प्रज्ञया शिवमभयमनाहार्यमव्ययमव्युपशमस्वभावं पश्यति न स पूर्वान्तं अपरान्तं वा प्रत्युत्पन्नं वा प्रतिसरति ।[2]

(६)

रत्नकूटसूत्रम्

वरं खलु काश्यप । सुमेरुमात्रा पुद्गलदृष्टिराश्रिता न त्वेवाभावाभिनिवेशिकस्य शून्यतादृष्टिः । तत् कस्य हेतोः ? सर्वदृष्टिकृतानां हि काश्यप !

---

१. चन्द्रकीर्तिना माध्यमिकवृत्तौ उद्धृता (५१६ पृष्ठे).

२. चन्द्रकीर्तिना माध्यमिकवृत्तौ उद्धृतम् (५९३ पृष्ठे)

शून्यता निःसरणम्। यस्य खलु पुनः शून्यतैव दृष्टिस्तमहमचिकित्स्यमिति वदामि। तद् यथा काश्यप! ग्लानः पुरुषः स्यात् तस्मै वैद्यो भैषज्यं दद्यात् तस्य तद् भैषज्यं सर्वदोषानुच्चार्य स्वयं कोष्ठगतं न निःसरेत्। तत् किं मन्यसे काश्यप! अपि तु स पुरुषस्ततो ग्लान्यान् मुक्तो भवेत्?[1]

शीलमायुष्मन्तो न संसरति न परिनिर्वाति। समाधिः प्रज्ञा आयुष्मन्तो न संसरति न परिनिर्वाति। एभिश्चायुष्मन्तो धर्मैर्निर्वाणं सूच्यते। एते च धर्माः शून्याः प्रकृतिविविक्ताः। संज्ञावेदयितनिरोधसमापत्तिमायुष्मन्तः समापद्यध्वम्। संज्ञावेदयितनिरोधसमापत्तिसमापन्नस्य भिक्षोर्नास्त्युत्तरीकरणीयम्।[2]

अथायुष्मान् सुभूतिस्तान् भिक्षूनेतदवोचत्। कुत्रायुष्मन्तो गताः कुतो वागताः? तेऽवोचन्—न क्वचिद् गमनाय न कुतश्चिदागमनाय भदन्त सुभूते! भगवता धर्मो देशितः। आह—को नामायुष्मतां शास्ता? आहुः—यो नोत्पन्नो न परिनिर्वास्यति। आह—कथं युष्माभिर्धर्मः श्रुतः? आहुः—न बन्धनाय न मोक्षाय। आह—केन यूयं विनीताः? आहुः—यस्य न कायो न चित्तम्। आह—कथं यूयं प्रयुक्ताः? आहुः—नाविद्याप्रहाणाय न विद्योत्पादनाय। आह—कस्य यूयं श्रावकाः? आहुः—येन न प्राप्तं नाभिसम्बुद्धम्। आह—के युष्माकं सब्रह्मचारिणः? आहुः—ये त्रैधातुके नोपविचरन्ति। आह—कृतं युष्माभिः करणीयम्? आहुः—अहंकारममकारपरिज्ञानतः। आह—क्षीणाः युष्माकं क्लेशाः? आहुः—अत्यन्तक्षयात् सर्वधर्माणाम्। आह—धर्षितो युष्माभिर्मारः? आहुः—स्कन्धमारानुपलंभात्। आह—परिचरितो युष्माभिः शास्ता? आहुः—न कायेन न वाचा न मनसा। आह—उत्तीर्णो युष्माभिः संसारः? आहुः—अनुच्छेदतोऽशाश्वततः। आह—प्रतिपन्ना युष्माभिर्दक्षिणीयभूमिः? आहुः—सर्वग्राहविनिर्मुक्तितः।[1]

---

१. चन्द्रकीर्तिना माध्यमिकवृत्तौ उद्धृतम् (२४८ पृष्ठे)

२. चन्द्रकीर्तिना माध्यमिकवृत्तौ उद्धृतम् (४८ पृष्ठे)

१. चन्द्रकीर्तिना माध्यमिकवृत्तौ उद्धृतम् (४९ पृष्ठे)

अश्वघोषः

(१)

सौन्दरनन्दम्

स्नेहेन कश्चिन् न समोऽस्ति पाशः स्रोतो न तृष्णासममस्ति हारि ।
रागाग्निना नास्ति समस्तथाग्निस्तच्चेत् त्रयं नास्ति सुखं च तेऽस्ति ॥ ५, २८
साधारणात् स्वप्ननिभादसारात् लोलं मनः कामसुखान् नियच्छ ।
हव्यैरिवाग्नेः पवनेरितस्य लोकस्य कामै र्न हि तृप्तिरस्ति ॥ ५, २३
तत् सौम्य लोलं परिगम्य लोकं मायोपमं चित्तमिवेन्द्रजालम् ।
प्रियाभिधानं त्यज मोहजालं छेत्तुं मतिस्ते यदि दुःखजालम् ॥ ५, ४५

चरन्नात्मारामो यदि च पिबति प्रीतिसलिलम् ।
ततो भुंक्ते श्रेष्ठं त्रिदशपतिराज्यादपि सुखम् ॥ १४, ५२
तज्जन्मनो नैकविधस्य सौम्य तृष्णादयो हेतव इत्यवेत्य ।
दुःखक्षयो हेतुपरिक्षयाच्च, शान्तं शिवं साक्षिकुरुष्व धर्मम् ॥ १६, २५-२६

यस्मिन् न जाति र्न जरा न मृत्यु र्न व्याधयो नाऽप्रियसंप्रयोगः ।
नेच्छाविपन् न प्रियविप्रयोगः क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतं तत् ॥ १६, २७
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ १६, २८
एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ १६, २९
न मे प्रियं किंचन नाप्रियं मे न मेऽनुरोधोऽस्ति कुतो विरोधः ।
तयोरभावात् सुखितोऽस्मि सद्यो हिमातपाभ्यामिव विप्रमुक्तः ॥ १७, ६७
अवाप्तकार्योऽसि परां गतिं गतो न तेऽस्ति किंचित् करणीयमण्वपि ।

अतः परं सौम्य चरानुकम्पया विमोक्षयन् कृच्छ्रगतान् परानपि ॥ १८, ५४
अभ्यर्चनं मे न तथा प्रणामो, धर्मे यथैषा प्रतिपत्तिरेव ॥ १८, २२

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता ।

यन् मोक्षात् कृतमन्यदत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥ १८, ६३

(२)

बुद्धचरितम्

रूपस्य हन्त्री व्यसनं बलस्य शोकस्य योनि र्निधनं रतीनाम् ।
नाशः स्मृतीनां रिपुरिन्द्रियाणामेषा जरा नाम ययैष भग्नः ॥ ३, ३०
आयुष्मतोऽप्येष वयःप्रकर्षो निःसंशयं कालवशेन भावी ।
एवं जरां रूपविनाशयित्रीं जानाति चैवेच्छति चैव लोकः ॥ ३, ३३
स्थूलोदरः श्वासचलच्छरीरः स्रस्तांसबाहुः कृशपाण्डुगात्रः ।
अम्बेति वाचं करुणं ब्रुवाणः परं समाश्रित्य नरः क एषः ॥ ३, ४१
ततोऽब्रवीत् सारथिरस्य सौम्य धातुप्रकोपप्रभवः प्रवृद्धः ।
रोगाभिधानः सुमहाननर्थः शक्तोऽपि येनैष कृतोऽस्वतन्त्रः ॥ ३, ४२
बुद्धीन्द्रियप्राणगुणैर्वियुक्तः सुप्तो विसंज्ञस्तृणकाष्ठभूतः ।
संवर्ध्य संरक्ष्य च यत्नवद्भिः प्रियप्रियैस्त्यज्यत एष कोपि ॥ ३, ५७
ततः प्रणेता वदति स्म तस्मै सर्वप्रजानामिदमन्तकर्म ।
हीनस्य मध्यस्य महात्मनो वा सर्वस्य लोके नियतो विनाशः ॥ ३, ५९
अहं जरामृत्युभयं विदित्वा मुमुक्षया धर्ममिमं प्रपन्नः ।
बन्धून् प्रियानश्रुमुखान् विहाय प्रागेव कामानशुभस्य हेतून् ॥ ११, ७
नाशीविषेभ्योऽपि तथा बिभेमि नैवाशनिभ्यो गगनाच्च्युतेभ्यः ।
न पावकेभ्योऽनिलसंहितेभ्यो यथा भयं मे विषयेभ्य एभ्यः ॥ ११, ८
कामैः सतृष्णस्य हि नास्ति तृप्तिर्यथेन्धनैर्वातसखस्य वह्नेः ॥ ११, १०
लोकस्य कामै र्न वितृप्तिरस्ति पतद्भिरम्भोभिरिवार्णवस्य ॥ ११, १२
शक्रस्य चार्धासनमप्यवाप्य मान्धातुरासीद् विषयेष्वतृप्तिः ॥ ११, १३
दर्पान् महर्षीनपि वाहयित्वा कामेष्वतृप्तो नहुषः पपात ॥ ११, १४

---

१. आचार्येणाश्वघोषेण महायानश्रद्धोत्पादशास्त्रं निरमायि । इदं तु शास्त्र मूल-संस्कृतभाषायां नोपलभ्यत इति महद्दुःखस्य विषयोऽयम् ।

२. प्रियाऽप्रियैः इति पाठभेदः ।

चीराम्बरा मूलफलाम्बुभक्षा जटा वहन्तोऽपि भुजङ्गदीर्घाः ।
यै र्नान्यकार्या मुनयोऽपि भग्नाः कः कामसंज्ञान् मृगयेत शत्रून् ॥ ११, १७
द्वन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके ।
अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम् ॥ ११, ४३
पदे तु यस्मिन् न जरा न भीर्न रुङ् न जन्म नैवोपरमो न चाधयः ।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया ॥ ११, ५९

स्वस्थप्रसन्नमनसः समाधिरुपपद्यते ।
समाधियुक्तचित्तस्य ध्यानयोगः प्रवर्तते ॥ १२, १०५
ध्यानप्रवर्तनाद्धर्माः प्राप्यन्ते यैरवाप्यते ।
दुर्लभं शान्तमजरं परं तदमृतं पदम् ॥ १२, १०६

तृतीयः परिच्छेदः

शून्यवादः

नागार्जुनः

(१)

मूलमाध्यमिककारिका

मंगलाचरणम् अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम् ।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम् ।

प्रत्ययपरीक्षा न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥ १, १
चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम् ।
तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः ॥ १, २
न हि स्वभावो भावानां प्रत्ययादिषु विद्यते ।
अविद्यमाने स्वभावे परभावो न विद्यते ॥ १, ३
क्रिया न प्रत्ययवती नाप्रत्ययवती क्रिया ।
प्रत्यया नाक्रियावन्तः क्रियावन्तश्च सन्त्युत ॥ १, ४
उत्पद्यते प्रतीत्येमानितीमे प्रत्ययाः किल ।
यावन् नोत्पद्यत इमे तावन् नाप्रत्ययाः कथम् ॥ १, ५
नैवासतो नैव सतः प्रत्ययोऽर्थस्य युज्यते ।
असतः प्रत्ययः कस्य सतश्च प्रत्ययेन किम् ॥ १, ६
न सन् नासन् न सदसद् धर्मो निर्वतते यदा ।
कथं निर्वतको हेतुरेवं सति हि युज्यते ॥ १, ७
अनालम्बन एवायं सद्धर्म उपदिश्यते ।
अथानालम्बने धर्मे कुत आलम्बनं पुनः ॥ १, ८
अनुत्पन्नेषु धर्मेषु निरोधो नोपपद्यते ।

नानन्तरमतो युक्तं निरुद्धे प्रत्ययश्च कः ॥ १, ६

भावानां निःस्वभावानां न सत्ता विद्यते यतः ।
सतीदमस्मिन् भवतीत्येतन् नैवोपपद्यते ॥ १, १०

तस्मान् न प्रत्ययमयं नाप्रत्ययमयं फलम् ।
संविद्यते, फलाभावात् प्रत्ययाप्रत्ययाः कुतः ॥ १, १४

गतागतपरीक्षा गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते ।
गतागतविनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते ॥ २, १

गन्ता न गच्छति तावदगन्ता नैव गच्छति ।
अन्यो गन्तुरगन्तुश्च कस्तृतीयो हि गच्छति ॥ २, ८

यदेव गमनं गन्ता स एव हि भवेद् यदि ।
एकीभावः प्रसज्येत कर्तुः कर्मण एव च ॥ २, १९

अन्य एव पुनर्गन्ता गतेर्यदि विकल्प्यते ।
गमनं स्यादृते गन्तुर्गन्ता स्याद् गमनादृते ॥ २, २०

गमनं सदसद्भूतस्त्रिप्रकारं न गच्छति ।
तस्माद् गतिश्च गन्ता च गन्तव्यं च न विद्यते ॥ २, २५

इन्द्रियपरीक्षा न दृष्टं दृश्यते तावददृष्टं नैव दृश्यते ।
दृष्टादृष्टविनिर्मुक्तं दृश्यमानं न दृश्यते ॥ ३, १

धातुपरीक्षा अस्तित्वं ये तु पश्यन्ति नास्तित्वं चाल्पबुद्धयः ।
भावानां, ते न पश्यन्ति द्रष्टव्योपशमं शिवम् ॥ ५, ८

संस्कृतपरीक्षा यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा ।
तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः ॥ ७, ३४

अग्नीन्धनपरीक्षा आत्मनश्च सतत्त्वं ये भावानां च पृथक् पृथक् ।
निर्दिशन्ति न तान् मन्ये शासनस्यार्थकोविदान् ॥ १०, १६

पूर्वापरकोटिपरीक्षा पूर्वा प्रज्ञायते कोटिर्नेत्युवाच महामुनिः ।
संसारोऽनवराग्रो हि नास्यादिर्नापि पश्चिमम् ॥ ११, १

नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत् ।
तस्मान् नात्रोपपद्यन्ते पूर्वापरसहक्रमाः ॥ ११, २

दुःखपरीक्षा स्वयं कृतं परकृतं द्वाभ्यां कृतमहेतुकम् ।

दुःखमित्येक इच्छन्ति तच्च कार्यं न युज्यते ॥ १२, १
न केवलं हि दुःखस्य चातुर्विध्यं न विद्यते ।
बाह्यानामपि भावानां चातुर्विध्यं न विद्यते ॥ १२, १०
संस्कारपरीक्षा तन्मृषा मोषधर्मा यद् भगवानित्यभाषत ।
सर्वे च मोषधर्माणः संस्कारास्तेन ते मृषा ॥ १३, १
कस्य स्यादन्यथाभावः स्वभावश्चेन् न विद्यते ।
कस्य स्यादन्यथाभावः स्वभावो यदि विद्यते ॥ १३, ४
तस्य चेदन्यथाभावः क्षीरमेव भवेद् दधि ।
क्षीरादन्यस्य कस्यचिद् दधिभावो भविष्यति ॥ १३, ६
यद्यशून्यं भवेत् किंचित् स्याच्छून्यमिति किंचन ।
न किंचिदस्त्यशून्यं च कुतः शून्यं भविष्यति ॥ १३, ७
शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः ।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे ॥ १३, ८
स्वभावपरीक्षा भावस्य चेदप्रसिद्धिरभावो नैव सिध्यति ।
भावस्य ह्यन्यथाभावमभावं ब्रुवते जनाः ॥ १५, ५
स्वभावं परभावं च भावं चाभावमेव च ।
ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्वं बुद्धशासने ॥ १५, ६
अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम् ।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः ॥ १५, १०
बन्धनमोक्षपरीक्षा निर्वास्याम्यनुपादानो निर्वाणं मे भविष्यति ।
इति येषां ग्रहस्तेषामुपादानमहाग्रहः ॥ १६, ९
न निर्वाणसमारोपो न संसारापकर्षणम् ।
यत्र कस्तत्र संसारो निर्वाणं किं विकल्प्यते ॥ १६, १०
कर्मफलपरीक्षा कर्म स्वभावतश्चेत् स्याच्छाश्वतं स्यादसंशयम् ।
अकृतं च भवेत् कर्म क्रियते नहि शाश्वतम् ॥ १७, २१
कर्म नोत्पद्यते कस्मात् निःस्वभावं यतस्ततः ।
यस्माच्च तदनुत्पन्नं न तस्माद् विप्रणश्यति ॥ १७, २१
अकृताभ्यागमभयं स्यात् कर्माकृतकं यदि ।
अब्रह्मचर्यवासश्च दोषस्तत्र प्रसज्यते ॥ १७, २३

व्यवहारा विरुध्यन्ते सर्व एव न संशयः ।
पुण्यपापकृतो नैव प्रविभागश्च युज्यते ॥ १७, २४
कर्म क्लेशात्मकं चेदं ते च क्लेशा न तत्वतः ।
न चेत् ते तत्वतः क्लेशाः कर्म स्यात् तत्वतः कथम् ॥ १७,२६
कर्म चेन् नास्ति कर्ता च कुतः स्यात् कर्मजं फलम् ।
असत्यथ फले भोक्ता कुत एव भविष्यति ॥ १७, ३०
शून्यता च न चोच्छेदः संसारश्च न शाश्वतम् ।
कर्मणोऽविप्रणाशश्च धर्मो बुद्धेन देशितः॥ १७, २०
क्लेशाः कर्माणि देहाश्च कर्तारश्च फलानि च ।
गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसन्निभाः ॥ १७, ३३
आत्मपरीक्षा ममेत्यहमिति क्षीणे बहिर्धाऽऽध्यात्ममेव च ।
निरुध्यत उपादानं तत् क्षयाज्जन्मनः क्षयः ॥ १८, ४
कर्मक्लेशक्षयान् मोक्षः कर्मक्लेशा विकल्पतः ।
ते प्रपञ्चात्, प्रपञ्चस्तु शून्यतायां निरुध्यते ॥ १८, ५
आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशितम् ।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम् ॥ १८, ६
निवृत्तमभिधातव्यं निवृत्ते चित्तगोचरे ।
अनुत्पन्नाऽनिरुद्धा हि निर्वाणमिव धर्मता ॥ १८, ७
अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥ १८, ९
प्रतीत्य यद् यद् भवति न हि तावत् तदेव तत् ।
न चान्यदपि तत् तस्मान् नोच्छिन्नं नापि शाश्वतत् ॥ १८,१०
अनेकार्थमनानार्थमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
एतत् तल्लोकनाथानां बुद्धानां शासनामृतम् ॥ १८, ११
कालपरीक्षा भावं प्रतीत्य कालश्चेत् कालो भावादृते कुतः ।
न च कश्चन भावोऽस्ति कुतः कालो भविष्यति ॥ १९, ६
भवविभवपरीक्षा विना वा सह वा नास्ति विभवः संभवेन वै ।
विना वा सह वा नास्ति संभवो विभवेन वै ॥ २१, १
न स्वतो जायते भावः परतो नैव जायते ।

न स्वतः परतश्चैव जायते, जायते कुतः ॥ २१, १३
एवं त्रिष्वपि कालेषु न युक्ता भवसन्ततिः।
त्रिषु कालेषु या नास्ति सा कथं भवसन्ततिः ॥ २१, २१

तथागतपरीक्षा शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति नो भवेत्।
उभयं नोभयं चेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥ २२, ११
शाश्वताशाश्वताद्यत्र कुतः शान्ते चतुष्टयम्।
अन्तानन्तादि चाप्यत्र कुतः शान्ते चतुष्टयम् ॥ २२, १२
स्वभावतश्च शून्येऽस्मिंश्चिन्ता नैवोपपद्यते।
परं निरोधाद् भवति बुद्धो न भवतीति वा ॥ २२, १४
प्रपञ्चयंति ये बुद्धं प्रपञ्चातीतमव्ययम्।
ते प्रपञ्चहताः सर्वे न पश्यन्ति तथागतम् ॥ २२, १५
तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं जगत्।
तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत् ॥ २२, १६

आर्यसत्यपरीक्षा यदि शून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः।
चतुर्णामार्यसत्यानामभावस्ते प्रसज्यते ॥ २४, १
संघो नास्ति न चेत् सन्ति तेऽष्टौ पुरुषपुद्गलाः।
अभावाच्चार्यसत्यानां सद्धर्मोऽपि न विद्यते ॥ २४, ४
धर्मे चासति संघे च कथं बुद्धो भविष्यति।
एवं त्रीण्यपि रत्नानि ब्रुवाणः प्रतिबाधसे ॥ २४, ५
शून्यतां फलसद्भावमधर्मं धर्ममेव च।
सर्वसंव्यवहारांश्च लौकिकान् प्रतिबाधसे ॥ २४, ६
अत्र ब्रूमः शून्यतायां न त्वं वेत्सि प्रयोजनम्।
शून्यतां शून्यतार्थं च तत एवं विहन्यसे ॥ २४, ७
द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥ २४, ८
येऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयोः।
ते तत्त्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने ॥ २४, ९
व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥ २४, १०

विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम् ।
सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता ॥ २४, ११
अतश्च प्रत्युदावृत्तं चित्तं देशयितुं मुनेः ।
धर्मं, मत्वाऽस्य धर्मस्य मन्दैर्दुरवगाहताम् ॥ २४, १२
शून्यतायामधिलयं यं पुनः कुरुते भवान् ।
दोषप्रसङ्गो नास्माकं स शून्ये नोपपद्यते ॥ २४, १३
सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते ।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्यं यस्य न युज्यते ॥ २४, १४
स त्वं दोषानात्मनीनानस्मासु परिपातयन् ।
अश्वमेवाभिरूढः सन्नश्वमेवासि विस्मृतः ॥ २४, १५
स्वभावाद् यदि भावानां सद्भावमनुपश्यसि ।
अहेतुप्रत्ययान् भावांस्त्वमेवं सति पश्यसि ॥ २४, १६
कार्यं च कारणं चैव कर्तारं करणं क्रियाम् ।
उत्पादं च निरोधं च फलं च प्रतिबाधसे ॥ २४, १७
यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ॥ २४, १८
अप्रतीत्यसमुत्पन्नो धर्मः कश्चिन् न विद्यते ।
यस्मात् तस्मादशून्यो हि धर्मः कश्चिन् न विद्यते ॥ २४, १९
यद्यशून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः ।
चतुर्णामार्यसत्यानामभावस्ते प्रसज्यते ॥ २४, २०
फलाभावे फलस्था नो न सन्ति प्रतिपन्नकाः ।
संघो नास्ति न चेत् सन्ति तेऽष्टौ पुरुषपुद्गलाः ॥ २४, २९
अभावाच्चार्यसत्यानां सद्धर्मोऽपि न विद्यते ।
धर्मे चासति संघे च कथं बुद्धो भविष्यति ॥ २४, ३०
न च धर्ममधर्मं वा कश्चिज्जातु करिष्यति ।
किमशून्यस्य कर्तव्यं स्वभावः क्रियते न हि ॥ २४, ३३
सर्वसंव्यवहारांश्च लौकिकान् प्रतिबाधसे ।
यत् प्रतीत्यसमुत्पादशून्यतां प्रतिबाधसे ॥ २४, ३६
अजातमनिरुद्धं च कूटस्थं च भविष्यति ।

विचित्राभिरवस्थाभिः स्वभावे रहितं जगत् ॥ २४, ३८

यः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यतीदं स पश्यति ।
दुःखं समुदयं चैव निरोधं मार्गमेव च ॥ २४, ४०

निर्वाणपरीक्षा

यदि शून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः ।
प्रहाणाद् वा निरोधाद् वा कस्य निर्वाणमिष्यते ॥ २५, १

यद्यशून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः ।
प्रहाणाद् वा निरोधाद् वा कस्य निर्वाणमिष्यते ॥ २५, २

अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन् निर्वाणमुच्यते ॥ २५, ३

भावश्च यदि निर्वाणं निर्वाणं संस्कृतं भवेत् ।
नासंस्कृतो हि विद्यते भावः क्वचन कश्चन ॥ २५, ५

यदि भावो न निर्वाणमभावः किं भविष्यति ।
निर्वाणं यत्र भावो न नाभावस्तत्र विद्यते ॥ २५, ७

प्रहाणं चाब्रवीच्छास्ता भवस्य विभवस्य च ।
तस्मान् न भावो नाभावो निर्वाणमिति युज्यते ॥ २५, १०

भवेदभावो भावश्च निर्वाणमुभयं कथम् ।
न तयोरेकत्रास्तित्वमालोकतमसोर्यथा ॥ २५, १४

नैवाभावो नैव भावो निर्वाणं यदि विद्यते ।
नैवाभावो नैव भाव इति केन तदज्यते ॥ २५, १६

य आजवंजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा ।
सोऽप्रतीत्याऽनुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते ॥ २५, ९

न संसारस्य निर्वाणात् किंचिदस्ति विशेषणम् ।
न निर्वाणस्य संसारात् किंचिदस्ति विशेषणम् ॥ २५, १९

निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य च ।
न तयोरन्तरं किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते ॥ २५, २०

सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः ।

न कचित् कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशितः ॥ २५, २

द्वादशाङ्गपरीक्षा संसारमूलान् संस्कारानविद्वान् संस्करोत्यतः ।
अविद्वान् कारकस्तस्मान् न विद्वांस्तत्त्वदर्शनात् ॥ २६, १०
अविद्यायां निरुद्धायां संस्काराणामसंभवः ।
अविद्याया निरोधस्तु ज्ञानेनास्यैव भावनात् ॥ २६, ११

दृष्टिपरीक्षा अथवा सर्वभावानां शून्यत्वाच्छाश्वतादयः ।
क कस्य कतमाः कस्मात् संभविष्यन्ति दृष्टयः ॥ २७, २९

सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्ममदेशयत् ।
अनुकम्पामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम् ॥ २७, ३०

(२)

विग्रहव्यावर्त्तनी

(स्वोपज्ञवृत्या सहिता)

पूर्वपक्षः सर्वेषां भावानां सर्वत्र न विद्यते स्वभावश्चेत् ।
त्वद्वचनमस्वभावं न निवर्तयितुमस्वभावमलम् ॥ १
अथ सस्वभावमेतद् वाक्यं श्रुत्वा हता प्रतिज्ञा ते ।
वैषमिकत्वं तस्मिन् विशेषहेतुश्च वक्तव्यः ॥ २
यदि च न भवेत् स्वभावो धर्माणां निःस्वभाव इत्येवम् ।
नामापि भवेन् नैवं, नामापि निर्वस्तुकं नास्ति ॥ ९
सत एव प्रतिषेधो, नास्ति घटो गेह इत्ययं यस्मात् ।
दृष्टः प्रतिषेधोयं सतः स्वभावस्य ते तस्मात् ॥ ११

सिद्धान्तः हेतुप्रत्ययसामग्र्यां पृथग्भावेऽपि मद्वचो न यदि ।
ननु शून्यत्वं सिद्धं, भावानामस्वभावत्वात् ॥ २१
यश्च प्रतीत्यभावो भावानां शून्यतेति सा ह्युक्ता ।
प्रतीत्य यश्च भावो भवति हि तस्यास्वभावत्वम् ॥ २२
न स्वाभाविकमेतद् वाक्यं तस्मान् न वादहानिर्मे ।
नास्ति च वैषमिकत्वं विशेषहेतुश्च न निगाद्यः ॥ २४

यदि हि वयं ब्रूमः इदं वचनमशून्यं शेषाः सर्वभावाः शून्या इति

ततो वैषमिकत्वं स्यात्। न चैतदेवम्। तस्मादस्माभिर्विशेषहेतुरपि न वक्तव्यः।

संव्यवहारं च वयं नानभ्युपगम्य कथयामः। २८

न वयं व्यवहारसत्यं प्रत्याख्याय कथयामः शून्याः सर्वभावा इति। न हि व्यवहारसत्यमनागम्य शक्या धर्मदेशना कर्तुम्।

यदि काचन प्रतिज्ञा स्यान् मे तत एव मे भवेद् दोषः।
नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान् नैवास्ति मे दोषः॥ २९

यदि किंचिदुपलभेयं प्रवर्तयेयं निवर्तयेयं वा।
प्रत्यक्षादिभिरर्थैस्तदभावान् मेऽनुपालम्भः॥ ३०

यदि च प्रमाणतस्तेषां तेषां प्रसिद्धिरर्थानाम्।
तेषां पुनः प्रसिद्धिं, ब्रूहि कथं ते प्रमाणानाम्॥ ३१

अन्यैर्यदि प्रमाणैः प्रमाणसिद्धिर्भवत्यनवस्था।
तेषामथ प्रमाणैर्विना प्रसिद्धिर्विहन्यते वादः॥ ३२, ३३

नैव स्वतः प्रसिद्धिर्न परस्परतः प्रमाणैर्वा।
भवति न च प्रमेयैर्न चाप्यकस्मात् प्रमाणानाम्॥ ५२

स यदि स्वभावतः स्याद् भावो न स्यात् प्रतीत्यसमुद्भूतः
यश्च प्रतीत्य भवति ग्राहो ननु शून्यता सैव॥ ६७

नाधर्मो धर्मो वा संव्यवहाराश्च लौकिका न स्युः।
नित्याश्च सर्वभावाः स्युर्नित्यत्वादहेतुमतः॥ ५६

प्रतिषेधयसेऽथ त्वं तच्च नास्ति शून्यत्वम्।
प्रतिषेधः सत इति ते नन्वेवं विहीयते वादः॥ ६३
प्रतिषेधयामि नाहं किंचित् प्रतिषेध्यमस्ति न च किंचित्।
तस्मात् प्रतिषेधयसीत्यधिलय एव त्वया क्रियते॥ ६४
प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किंचित् न भवति शून्यता यस्य॥ ७१
यः शून्यतां प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतिपदमनेकार्थाम्।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसंबुद्धम्॥ ७२

(३)

रत्नावली

प्रथमः परिच्छेदः निवृत्तिरशुभात् कृत्स्नात् प्रवृत्तिस्तु शुभे सदा ।
मनसा कर्मणा वाचा धर्मोऽयं द्विविधः स्मृतः ॥ २२
नास्म्यहं न भविष्यामि न मेऽस्ति न भविष्यति ।
इति बालस्य संत्रासः पण्डितस्य भयक्षयः ॥
न भविष्यति निर्वाणे सर्वमेतन् न ते भयम् ।
उच्यमान इहाऽभावस्तस्य ते किं भयंकरः ॥ ४०
न चाभावोऽपि निर्वाणं कुत एवास्य भावता ।
भावाभावपरामर्शक्षयो निर्वाणमुच्यते ॥ ४२
ज्ञाने नास्त्यस्तिताशान्ते पापपुण्यव्यतिक्रमः ।
दुर्गतेः सुगतेश्चास्मात् स मोक्षः सद्भिरुच्यते ॥ ४५
नास्तिको दुर्गतिं याति सुगतिं याति चास्तिकः ।
यथाभूतपरिज्ञानान् मोक्षमद्वयनिश्रितः ॥ ५७
न प्रतिज्ञा न चरितं न चित्तं बोधिनिश्रयात् ।
अस्तिनास्तिव्यतीता ये कथं ते नास्तिकाः स्मृताः ॥ ६०
ससांख्यौलूक्यनिर्ग्रन्थपुद्गलस्कन्धवादिनम् ।
पृच्छ लोकं यदि वदत्यस्तिनास्तिव्यतिक्रमम् ॥ ६१
धर्मयौतकमित्यस्मान् नास्त्यस्तित्वव्यतिक्रमम् ।
विद्धि गम्भीरमित्युक्तं बुद्धानां शासनामृतम् ॥ ६२

द्वितीयः परिच्छेदः पक्षाद्धि प्रतिपक्षः स्यादुभयं तच्च नार्थतः ।
इति सत्यानृतातीतो लोकोऽयं परमार्थतः ॥ ५
धर्मात् कीर्तिः सुखं चैव नेह भीर्न परेत्य च ।
परलोकसुखं स्फीतं तस्माद् धर्मं सदा भज ॥ २७
यथैव वैयाकरणो मातृकामपि पाठयेत् ।
बुद्धोऽवदत् तथा धर्मं विनेयानां यथाक्षमम् ॥ ६४
केषांचिदवदद् धर्मं पापेभ्यो विनिवृत्तये ।
केषांचित् पुण्यसिद्ध्यर्थं केषांचिद् द्वयनिश्रितम् ॥ ६५

द्वयानिश्रितमेकेषां गम्भीरं भीरुभीषणम् ।
शून्यताकरुणागर्भं केषांचिद् बोधिसाधनम् ॥ ९६

आर्यदेवः

(१)

चतुःशतकम्*

अग्र्याणां मानसं दुःखमितरेषां शरीरजम् ।
दुःखद्वयेन लोकोऽयमहन्यहनि हन्यते ॥ ३३
कालो यथा यथा याति दुःखवृद्धिस्तथा तथा ।
तस्मात् कलेवरस्यास्य परवद् दृश्यते सुखम् ॥ ३५
प्रतिनासिकया तुष्टिः स्याद्धीनांगस्य कस्यचित् ।
रागोऽशुचिप्रतीकारे पुष्पादाविष्यते तथा ॥ ७३
यत्नतः क्रियते कर्म कृतं नश्यत्ययत्नतः ।
विरागोऽस्ति न ते कश्चिदेवं सत्यपि कर्मणि ॥ १६२
अस्मिन् धर्मेऽल्पपुण्यस्य सन्देहोऽपि न जायते ।
भवः सन्देहमात्रेण जायते जर्जरीकृतः ॥ १८०
लौकिकी देशना यत्र प्रवृत्तिस्तत्र वर्ण्यते ।
परमार्थकथा यत्र निवृत्तिस्तत्र वर्ण्यते ॥ १८३
न चेष्टा किल बुद्धानामस्ति काचिदकारणा ।
निःश्वासोऽपि हितायैव प्राणिनां संप्रवर्तते ॥ १०१
वारणं प्रागपुण्यस्य मध्ये वारणमात्मनः ।
सर्वस्य वारणं पश्चाद् यो जानीते स बुद्धिमान् ॥ १९०
शून्यता पुण्यकामेन वक्तव्या नैव सर्वदा ।
ननु प्रयुक्तमस्थाने जायते विषमौषधम् ॥ १९३
नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा ।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ॥ १९४

---

* अत्र कानिचिद् विलुप्तानि पद्यानि म० म० पं० विधुशेखरभट्टाचार्येण भोटभाषानुवादात् संस्कृतेऽनूदितानि, कानिचिच्चापूर्णानि पद्यानि संपूरितानि ।

आदिर्न विद्यते यस्य यस्य मध्यं न विद्यते ।
विद्यते न च यस्यान्तः केनाऽव्यक्तः स दृश्यते ॥ २१७
शाश्वतस्य कुतो बाधा मोक्षो बाधां विना कुतः ।
तेनात्मा शाश्वतो यस्य तस्य मोक्षो न युज्यते ॥ २४४
यस्मात् प्रवर्तते भावस्तेनोच्छेदो न जायते ।
यस्मान् निवर्तते भावस्तेन नित्यो न जायते ॥ २५०

शीलादपि वरं स्रंसो न तु दृष्टेः कथंचन ।
शीलेन गम्यते स्वर्गो दृष्ट्या याति परं पदम् ॥ २८३
अहंकारोऽसतः श्रेयान् न तु नैरात्म्यदर्शनम् ।
अपायमेव यात्येकः शिवमेव तु नेतरः ॥ २८७
अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयंकरम् ।
विषयः सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते ॥ २८८
अस्य धर्मस्य नाम्नोऽपि भयमुत्पद्यतेऽसतः ।
बलवान् नाम को दृष्टः परस्य न भयंकरः ॥ २८९
विवादस्य कृते धर्मो नाऽयमुक्तस्तथागतैः ।
परवादांस्तथाप्येष दहत्यग्निर्यथेन्धनम् ॥ २९०
शाक्यैरचेलकैर्विप्रैस्त्रिभिश्चित्तेन चक्षुषा ।
कर्णेन गृह्यते धर्मः सूक्ष्मस्तत् समयो मुनेः ॥ २९४
अलातचक्रनिर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः ।
धूमिकान्तःप्रतिश्रुत्कामरीच्यभ्रैः समो भवः ॥ ३२५
न ह्यस्पर्शवतो नाम योगः स्पर्शवता सह ।
रूपादीनामतो योगः सर्वथापि न युज्यते ॥ ३३३
प्रतीत्य संभवो यस्य स स्वतन्त्रो न जायते ।
न स्वतन्त्रमिदं सर्वं स्वयं यस्मान्न विद्यते ॥ ३४८
उत्पादस्थितिभंगानां युगपन् नास्ति संभवः ।
क्रमशः संभवो नास्ति संभवो विद्यते कुतः ॥ ३६१
न भावाज्जायते भावो भावोऽभावान्न जायते ।
नाऽभावाज्जायतेऽभावोऽभावो भावान्न जायते ॥ ३६४

कारणव्यतिरेकेण यदा कार्यं न विद्यते ।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तदा नैवोपपद्यते ॥ ३७५

सदसत्सदसच्चेति यस्यपक्षो न विद्यते ।
उपालम्भश्चिरेणाऽपि तस्य वक्तुं न शक्यते ॥ ४००

(२)

चित्तविशुद्धिप्रकरणम्

यथैकः स्फटिकः स्वच्छः पररागेण रज्यते ।
तथैव चित्तरत्नं तु कल्पनारागरञ्जितम् ॥ २७

प्रकृत्या कल्पनारागैर्विविक्तं चित्तरत्नकम् ।
आदिशुद्धमनुत्पन्नं निजरूपमनाविलम् ॥ २८

कर्णाज्जलं जलेनैव कण्टकेनैव कण्टकम् ।
रागेणैव तथा रागमुद्धरन्ति मनीषिणः ॥ ३७

यथैव रजको वस्त्रं मलेनैव तु निर्मलम् ।
कुर्याद् विज्ञस्तथात्मानं मलेनैव तु निर्मलम् ॥ ३८

लोहपिण्डो जले क्षिप्तो मज्जत्येव तु केवलम् ।
पात्रीकृतं तदेवान्यं तारयेत् तरति स्वयम् ॥ ४०

यथैव विधिवद् भुक्तं विषमप्यमृतायते ।
दुर्भुक्तं घृतपूरादि बालानां तु विषायते ॥ ४५

इदमेव हि यच्चित्तं शोधितं हेतुभिः शुभैः ।
निर्विकल्पं निरालम्बं भाति प्रकृतिनिर्मलम् ॥ ४६

आत्मात्मीयग्रहादेते संभवन्तीह जन्मिनाम् ।
अविद्याहेतुकः सोपि ह्यविद्या भ्रान्तिरिष्यते ॥ ६६

रौप्यबुद्धिर्यथा शुक्तौ शुक्तिदृष्टे निवर्तते ।
नैरात्म्यदर्शनात् सापि निर्मूलमवसीदति ॥ ६७

अविद्याकर्दमालिप्तं चित्तचिन्तामणिं पुमान् ।
प्रवृत्तः क्षालितुं विद्वान् कोऽविद्यां बृहयेत् पुनः ॥ ७४

प्रज्ञोपायविधानेन कर्म निर्लिप्तमाचरेत् ।
पङ्कजातं यथा पद्मं पङ्कदोषैर्न लिप्यते ॥ ११५

।वधूतकल्पनाजालं प्रज्ञानिर्मलचेतसा ।
जन्मन्यत्रैव बुद्धत्वं प्राप्यते न च संशयः ॥ ८५

चन्द्रकीर्तिः

(१)

प्रसन्नपदा माध्यमिकवृत्तिः

योऽन्तद्वयावासविधूतवासः सम्बुद्धधीसागरलब्धजन्मा ।
सद्धर्मकोशस्य गभीरभावं यथानुबुद्धं कृपया जगाद ॥
यस्यासमज्ञानवचःशरौघा निघ्नन्ति निःशेषभवारिसेनाम् ।
त्रिधातुराज्यश्रियमादधाना विनेयलोकस्य सदेवकस्य ॥
नागार्जुनाय प्रणिपत्य तस्मै तत्कारिकाणां विवृतिं करिष्ये ।
उत्तानसत्प्रक्रियवाक्यनद्धां तर्कानलाऽव्याकुलितां प्रसन्नाम् ॥
यच्छास्ति वः क्लेशरिपूनशेषान् संत्रायते दुर्गतितो भवाच्च ।
तच्छासनात् त्राणगुणाच्च शास्त्रमेतद्द्वयं चान्यमतेषु नास्ति ॥

अत्र अनिरोधाद्यष्टविशेषणाविशिष्टः प्रतीत्यसमुत्पादः शास्त्राभिधेयार्थः । सर्वप्रपञ्चोपशमशिवलक्षणं निर्वाणं शास्त्रस्य प्रयोजनम् । प्रतीत्यशब्दोऽत्र ल्यबन्तः प्राप्तावपेक्षायां वर्तते । समुत्पूर्वः पदिः प्रादुर्भावे वर्तते । ततश्च हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः । 'अस्मिन् सतीदं भवति, ह्रस्वे दीर्घं यथा सति ।' अपरे तु ब्रुवते । इतिर्गमनं विनाशः । इतौ साधव इत्याः । प्रतिर्वीप्सार्थः । इत्येवं तद्धितान्तं इत्यशब्दं व्युत्पाद्य प्रति प्रति इत्यानां विनाशिनां समुत्पाद इति वर्णयन्ति (हीनयानानुयायिनः), न चैतदेवम् ।

हेतुप्रत्ययापेक्षं भावानामुत्पादं परिदीपयता भगवता (बुद्धेन) अहेत्वेकहेतुविषमहेतुसंभूतत्वं स्वपरोभयकृतत्वं च भावानां निषिद्धं भवति । तन्निषेधाच्च सांवृतं स्वरूपमुद्भासितं भवति । स एवेदानीं सांवृतः प्रतीत्यसमुत्पादः । स्वभावेनानुत्पन्नत्वात् आर्यज्ञानापेक्षया नास्मिन् निरोधो विद्यते । यथा च निरोधादयो न सन्ति प्रतीत्यसमुत्पादस्य तथा सकलशास्त्रेण प्रतिपादयिष्यति । यथावस्थितप्रतीत्यसमुत्पाददर्शने सति

आर्याणामभिधेयादिलक्षणस्य प्रपञ्चस्य सर्वथोपरमात् स एव प्रतीत्यसमुत्पादः प्रपञ्चोपशम इत्युच्यते। ज्ञानज्ञेयव्यवहारनिवृत्तौ जातिजरामरणादिनिरवशेषोपद्रवरहितत्वात् शिवः। (स एवेदानीं पारमार्थिकः प्रतीत्यसमुत्पादः।)

आचार्यबुद्धपालितः (प्रासंगिकमाध्यमिकमताचार्यः) त्वाह—'न स्वत उत्पद्यन्ते भावाः। तदुत्पादनवैयर्थ्यात्। अतिप्रसङ्गदोषाच्च।' इति। अत्रैके (स्वतन्त्रमाध्यमिकमताचार्याः भावविवेकाः तर्कज्वालानाममाध्यमिकवृत्तौ) दूषणमाहुः—'तत् (बुद्धपालितमतं) अयुक्तं, हेतुदृष्टान्तानभिधानात्, परोक्त (सांख्योक्त)—दोषापरिहारात्, प्रसङ्गवाक्यत्वात् चेति।' सर्वमेतद् (भावविवेकोक्तं) दूषणमयुज्यमानं वयं पश्यामः। तत्र यदुक्तं हेतुदृष्टान्तानभिधानादिति तदयुक्तम्। यस्मात् परः स्वत उत्पत्तिमभ्युपगच्छन् विद्यमानस्य पुनरुत्पादे प्रयोजनं पृच्छ्यते। न च विद्यमानस्य पुनरुत्पत्तौ प्रयोजनं पश्यामः। अथ स्वाभ्युपगमविरोधचोदनयापि परो न निवर्तते तदापि निर्लज्जतया हेतुदृष्टान्ताभ्यामपि नैव निवर्तेत। न चोन्मत्तकेन सहास्माकं विवादः। तस्मात् प्रियानुमानतामेवात्मन आचार्यः (भावविवेकः) प्रकटयति, अस्थानेप्यनुमानं प्रवेशयन्। न च माध्यमिकस्य स्वतः स्वतन्त्रमनुमानं कर्तुं युक्तं, पक्षान्तराभ्युपगमाभावात्। यत् तावदुक्तं (भावविवेकेन) परोक्तदोषाऽपरिहाराच्चेति तदप्ययुक्तम्। कुतोऽस्माकं हेतुर्यस्य सिद्धसाधनं विरुद्धार्थता वा स्यात्? यस्य सिद्धसाधनस्य यस्याश्च विरुद्धार्थतायाः परिहारार्थं यत्नं करिष्यामः? तस्मात् परोक्तदोषाप्रसङ्गादेव तत्परिहार आचार्यबुद्धपालितेन न वर्णनीयः। यदुक्तं प्रसङ्गवाक्यत्वाच्चेति तदप्ययुक्तं, स्वप्रतिज्ञाया अभावात्।

कुतो नु खल्वविपरीताचार्यनागार्जुनमतानुसारिण आचार्यबुद्धपालितस्य सावकाशवचनाभिधायित्वं यतोऽस्य परोऽवकाशं लभेत। न हि शब्दा दाण्डपाशिका इव वक्तारमस्वतन्त्रयन्ति। किं तर्हि, सत्यां शक्तौ वक्तुर्विवक्षामनुविधीयन्ते। ततश्च परप्रतिज्ञाप्रतिषेधमात्रफलत्वात् प्रसङ्गापादनस्य नास्ति प्रसङ्गविपरीतार्थापत्तिः। अपि चात्मनस्तर्कशास्त्राति-

कौशलमात्रमाविश्चिकीर्षया अङ्गीकृतमध्यमकदर्शनस्य यत् स्वतन्त्रप्रयोगवाक्याभिधानं तदतितरामनेकदोषसमुदायास्पदम् ।

स्वतन्त्रमनुमानं ब्रुवतामयं दोषो जायते । न वयं स्वतन्त्रमनुमानं प्रयुञ्ज्महे परप्रतिज्ञानिषेधफलत्वादस्मदनुमानानाम् ।

नन्वेवं सति यन् मृषा न तदस्तीति न सन्त्यकुशलानि कर्माणि । तदभावान् न सन्ति दुर्गतयः । न सन्ति कुशलानि कर्माणि । तदभावान् न सन्ति सुगतयः । सुगतिदुर्गत्यसंभवाच्च नास्ति संसार इति सर्वारंभवैयर्थ्यमेव स्यात् । उच्यते । संवृतिसत्यव्यपेक्षया लोकस्येदं सत्याभिनिवेशस्य प्रतिपक्षभावेन मृषार्थता भावानां प्रतिपाद्यतेऽस्माभिः । नैव त्वार्याः कृतकार्याः किंचिदुपलभन्ते यन् मृषाऽमृषा वा स्यादिति । अपि च येन हि सर्वधर्माणां मृषात्वं परिज्ञातं किं तस्य कर्माणि सन्ति संसारो वास्ति ?

किं संवृते र्व्यवस्थानं, वक्तव्यम् । इदंप्रत्ययतामात्रेण संवृतेः सिद्धिरभ्युपगम्यते । न तु पक्षचतुष्टयाभ्युपगमेन, सस्वभाववादप्रसंगात् । तस्य चायुक्तत्वात् । इदंप्रत्ययतामात्राभ्युपगमे हि सति हेतुफलयोरन्योन्यापेक्षत्वान् नास्ति स्वाभाविकी सिद्धिरिति नास्ति सस्वभाववादः । अत एवोक्तम्—'स्वयं कृतं परकृतं द्वाभ्यां कृतमहेतुकम् । तार्किकैरिष्यते दुःखं त्वया तूक्तं प्रतीत्यजम् ॥' इति । तत्रायं धर्मसंकेतो यदुत 'अस्मिन् सतीदं भवति ।' अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते । यदुत अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः संस्कारप्रत्ययं विज्ञानमित्यादि ।

अत्र केचित् परिचोदयन्ति । अनुत्पन्ना भावा इति किमयं प्रमाणजो निश्चय उताप्रमाणजः ? तत्र यदि प्रमाणज इष्यते तदेदं वक्तव्यं, कति प्रमाणानि, किं लक्षणानि, किं विषयाणि, किं स्वत उत्पन्नानि किं परत उभयतोऽहेतुतो वेति ? अथाप्रमाणजः, स न युक्तः । यतो वायं निश्चयो भवतोऽनुत्पन्ना भावा इति भविष्यति तत एव ममापि सर्वभावाः सन्तीति । अथ ते नास्ति निश्चयस्तदा स्वयमनिश्चितस्य परप्रत्यायनासंभवात् शास्त्रारंभवैयर्थ्यमेवेति ।

उच्यते । यदि कश्चित् निश्चयो नामास्माकं स्यात्, स प्रमाणजो वा स्यादप्रमाणजो वा । न त्वस्ति । किं कारणम् ? इहानिश्चयसंभवे सति स्यात् तत्प्रतिपक्षस्तदपेक्षो निश्चयः । यदा त्वनिश्चय एव तावदस्माकं

नास्ति तदा कुतस्तद्विरुद्धो निश्चयः स्यात् सम्बन्ध्यन्तरनिरपेक्षत्वात् खरविषाणस्य ह्रस्वदीर्घतावत्। तदा कस्य प्रसिद्ध्यर्थं प्रमाणानि परिकल्पयिष्यामः ? कुतो वैषां संख्या लक्षणं विषयः समुत्पत्तिर्वा भविष्यति ?

यद्येवं निश्चयो नास्ति कथं पुनरिदं निश्चितरूपं वाक्यमुपलभ्यते भवतां—'न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥' इति। उच्यते। निश्चितमिदं वाक्यं लोकस्य स्वप्रसिद्ध्यैवोपपत्त्या नार्याणाम्। किं खलु आर्याणामुपपत्तिर्नास्ति ? केनैतदुक्तमस्ति वा नास्ति वेति। परमार्थो ह्यार्याणां तूष्णींभावः। ततः कुतस्तत्र प्रपञ्चसंभवो यदुपपत्तिरनुपपत्तिर्वा स्यात्। यदि ह्यार्या उपपत्तिं न वर्णयन्ति केन खलु इदानीं परमार्थं लोकं बोधयिष्यन्ति ? न खल्वार्या लोकसंव्यवहारेणोपपत्तिं वर्णयन्ति, किं तु लोकत एव या प्रसिद्धोपपत्तिस्तां परावबोधार्थमभ्युपेत्य तयैव लोकं बोधयन्ति।

कुतार्किकैः स (लौकिकः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः) नाशितो विपरीतलक्षणाभिधानेन, तस्यास्माभिः सम्यग्लक्षणमुक्तमिति चेत् एतदप्ययुक्तम्। यदि हि कुतार्किकैर्विपरीतलक्षणप्रणयनं कृतं लक्ष्यवैपरीत्यं लोकस्य स्यात्। न चैतदेवमिति व्यर्थ एवायं प्रयत्नः (दिङ्नागादीनां न्यायमतखण्डनाय स्वसामान्यलक्षणव्यवस्थापनाय च)।

वस्तुतस्तु लक्ष्यं नास्ति लक्ष्यव्यतिरेकेण च लक्षणं निराश्रयं तथापि संवृतिरेवेति। परस्परापेक्षया तयोः सिद्ध्या सिद्धिं व्यवस्थापयाम्बभूवुराचार्याः। अवश्यं चैतदेवमभ्युपेयम्। अन्यथा हि संवृतिरुपपत्त्या न वियुज्येत। तदेव तत्त्वमेव स्यान् न संवृतिः। तिष्ठतु तावदेषा विपर्यासमात्रासादितात्मभावसत्ताका संवृतिर्मुमुक्षूणां मोक्षावाहककुशलमूलोपचयहेतुर्यावन् न तत्त्वाधिगम इति। भवान् (दिङ्नागः) त्वेतां संवृतिपरमार्थसत्यविभागदुर्विदग्धबुद्धितया क्वचिदुपपत्तिमवतार्यान्यायतो नाशयति। सोऽहं संवृतिसत्यव्यवस्थावैचक्षण्यात् लौकिक एव पक्षे स्थित्वा संवृत्येकदेशनिराकरणोपक्षिप्तोपपत्त्यन्तरान्तरं उपपत्त्यन्तरेण विनिवर्तयन् लोकं वृद्ध इव लोकाचारात् परिभ्रश्यमानं भवन्तमेव निवर्तयामि न तु संवृतिम्। तस्माद् यदि लौकिको व्यवहारस्तदाऽवश्यं लक्षणवत् लक्ष्येणापि भवितव्यम्। अथ परमार्थस्तदा लक्ष्याभावाल्लक्षणद्वयमपि नास्तीति

कुतः प्रमाणद्वयम्। तदेवं प्रमाणचतुष्टयाल्लोकस्यार्थाधिगमो व्यवस्थाप्यते। तानि च परस्परापेक्षया सिध्यन्ति। सत्सु प्रमाणेषु प्रमेयार्थाः। सत्सु प्रमेयेष्वर्थेषु प्रमाणानि। लौकिक एव दर्शने स्थित्वा बुद्धानां भगवतां धर्मदेशना।

न स्वत उत्पद्यन्ते भावाः। तदुत्पादवैयर्थ्यात् अतिप्रसंगदोषाच्च। विद्यमानस्य पुनरुत्पत्तौ प्रयोजनं नास्ति। अनवस्था चास्ति। परतोऽपि नोत्पद्यन्ते भावाः। सर्वतः सर्वसंभवप्रसंगात्, पराभावाच्च। द्वाभ्यामपि नोपजायन्ते भावाः। उभयपक्षाभिहितदोषप्रसंगात्, प्रत्येकमुत्पादासामर्थ्याच्च अहेतुतोऽपि नोत्पद्यन्ते, गगनोत्पलगन्धप्रसंगात्।

स चान्तोपदेशो लौकिक एव व्यवहारे स्थित्वा उत्साहनार्थं सत्वानां देशितो लौकिकज्ञानापेक्षया। वस्तुकचिन्तायां तु संसार एव नास्ति। तत् कुतोऽस्य परिक्षयः प्रदीपावस्थायां रज्जूरगपरिक्षयवत्।

इह सर्वेषामेव दृष्टिकृतानां सर्वग्राहाभिनिवेशानां यन् निःसरणमप्रवृत्तिः सा शून्यता। ये तु तस्यामपि शून्यतायां भावाभिनिवेशिनस्तेऽसाध्याः। यो न किंचिदपि ते पण्यं दास्यामीत्युक्तः स चेद् देहि भोस्तदेव मह्यं न किंचिन् नाम पण्यमिति ब्रूयात् स केनापायेन शक्यः पण्याभावं ग्राहयितुम्?

न वयं नास्तिकाः। अस्तित्वनास्तित्वद्वयवादनिरासेन तु वयं निर्वाणपुरगामिनमद्वयपथं विद्योतयामः। न च कर्मकर्तृफलादिकं नास्तीति ब्रूमः। किं तर्हि? निःस्वभावमेतदिति व्यवस्थापयामः। तस्माद्द्वयवादिनां माध्यमिकानां कुतो मिथ्यादर्शनम्। माध्यमिकानामेव भावानां स्वभावानभ्युपगमात शाश्वतोच्छेददर्शनद्वयप्रसङ्गो नास्तीति विज्ञेयम्। शून्यतैव सर्वप्रपञ्चनिवृत्तिलक्षणत्वान् निर्वाणमित्युच्यते।

अत्रैके परिचोदयन्ति नास्तिकाविशिष्टा माध्यमिका इति। नैवम्। कुतः? प्रतीत्यसमुत्पादवादिनो हि माध्यमिकाः सर्वमेवेहलोकपरलोकं निःस्वभावं वर्णयन्ति। नास्तिकास्तु ऐहिलौकिकं वस्तुजातं स्वभावत उपलभ्य पदार्थापवादं कुर्वन्ति। संवृत्या माध्यमिकैरस्तित्वेनाभ्युपगमान् न (नास्तिकैः) तुल्यता। वस्तुतस्तुल्यतेति चेत्। यद्यपि वस्तुतोऽसिद्धिस्तुल्या तथापि प्रतिपत्तृभेदादतुल्यता। यथा हि कृतचौर्यं पुरुषमेकः सम्य-

गपरिज्ञायैव तदमित्रप्रेरितस्तं मिथ्या व्याचष्टे चौर्यमनेन कृतमिति। अपरस्तु साक्षाद् दृष्ट्वा दूषयति। तत्र यद्यपि वस्तुतो नास्ति भेदस्तथापि परिज्ञातृभेदादेकस्तत्र मृषावादीत्युच्यते अपरस्तु सत्यवादीति।

सर्वप्रपञ्चोपशमः शून्यतायां प्रयोजनम्। भवांस्तु नास्तित्वं शून्यतार्थं परिकल्पयन् प्रपञ्चजालमेव संवर्धयमानो न शून्यतायां प्रयोजनं वेत्ति। प्रतीत्यसमुत्पादशब्दस्य योऽर्थः स एव शून्यताशब्दस्यार्थो न पुनरभावशब्दस्य योऽर्थः स शून्यताशब्दस्यार्थः। अभावशब्दार्थं च शून्यतार्थमित्यध्यारोप्य भवानस्मानुपालभते तस्मात् शून्यताशब्दार्थमपि न जानाति।

समन्ताद् वरणं संवृतिः। अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वावच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते। परस्परसंभवनं वा संवृतिरन्योन्यसमाश्रयेण। अथवा संवृतिः संकेतो लोकव्यवहारः। स चाभिधानाभिधेयज्ञानज्ञेयादिलक्षणः। कुतस्तत्र परमार्थे वाचां प्रवृत्तिः कुतो वा ज्ञानस्य। स हि परमार्थोऽपरप्रत्ययः शान्तः सर्वप्रपञ्चातीतः। स नोपदिश्यते नापि च ज्ञायते। किं तु लौकिकव्यवहारमनभ्युपगम्याशक्य एव परमार्थो देशयितुम्। अदेशितश्च न शक्योऽधिगन्तुम्। अनधिगम्य च परमार्थं न शक्यं निर्वाणमधिगन्तुम्। तस्मान् निर्वाणाधिगमोपायत्वादवश्यमेव यथावस्थिता संवृतिरादावेवाभ्युपेया भाजनमिव सलिलार्थिनेति।

भावरूपेणाऽभावरूपेण वा गृह्यमाणा शून्यता ग्रहीतारं विनाशयति। तदास्य मिथ्यादृष्टिरापद्यते। यस्येयं शून्यता क्षमते तस्य सर्वे लौकिकाः संव्यवहाराः युज्यन्ते। आगमनगमनभावजन्ममरणपरम्परारूपो य आजवंजवीभावः स कदाचिद् हेतुप्रत्ययसामग्रीमाश्रित्यास्तीति प्रज्ञप्यते दीर्घह्रस्ववत्। कदाचिदुत्पद्यते इति प्रज्ञप्यते प्रदीपप्रभावद् बीजांकुरवत्। प्रतीत्यसमुत्पादस्यैव यथावदविपरीतभावनातोऽविद्या प्रहीयते। प्रहीणाविद्यस्य च संस्कारादयो निरुध्यन्ते। वस्तुतस्तु निर्वाणे न कस्यचित् प्रहाणं नापि कस्यचित् निरोध इति विज्ञेयम्। ततश्च निरवशेषकल्पनाक्षयरूपमेव निर्वाणम्। तदेव शून्यता।

(२)

मध्यमकावतारः

तस्मान्न तस्य जनिरेव, कुतः परस्माद्, द्वाभ्यां न चास्ति, कथमेव भवेदहेतुः।
तस्माद्धि तस्य भवने न गुणोऽस्ति कश्चिज्जातस्य जन्म पुनरेव च नैव युक्तम् ।। ६,८
अन्यत् प्रतीत्य यदि नाम परोऽभविष्यज्जायेत तर्हि बहुलः शिखिनोऽन्धकारः
सर्वस्य जन्म च भवेत् खलु सर्वतश्च तुल्यं परत्वमखिलेऽजनकेऽपि यस्मात् ।।
जन्मोन्मुखं न सदिदं यदि जायमानं नाशोन्मुखं सदपि नाम निरुध्यमानम्।
इष्टं तदा कथमिदं तुलया समानं कर्त्रा विना जनिरियं न च युक्तरूपा ।। ६,१९
सम्यङ्मृषादर्शनलब्धभावं रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः ।
सम्यग्दृशां यो विषयः स तत्त्वं मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम् ।। ६, २३
विनोपघातेन यदिन्द्रियाणां षण्णामपि ग्राह्यमवैति लोकः ।
सत्यं हि तल्लोकत एव शेषं विकल्पितं लोकत एव मिथ्या ।। ६, २५
न बाधते ज्ञानमतैमिराणां यथोपलब्धं तिमिरेक्षणानाम् ।
तथाऽमलज्ञानतिरस्कृतानां धियाऽस्ति बाधा न धियोऽमलायाः ।। ६, २७
मोहः स्वभावावरणाद्धि संवृतिः सत्यं तथा ख्याति यदेव कृत्रिमम् ।
जगाद तत् संवृतिसत्यमित्यसौ मुनिः पदार्थं कृतकंच संवृतिम् ।। ६, २८
*लोकः प्रमाणं न हि सर्वथाऽतो लोकस्य नो तत्त्वदशासु बाधा ।
लोकप्रसिद्ध्या यदि लौकिकोऽर्थो बाध्येत लोकेन भवेद्धि बाधा ।। ६, ३१
*लोकः प्रमाणं यदि तत्त्वदर्शी लोकोऽत आर्येण परेण कोऽर्थः ।
आर्यस्य मार्गेण किमस्ति कार्यं जडः प्रमाणं न हि युज्यतेऽपि ।। ६, ३०
एवं हि गंभीरतरान् पदार्थान् न वेत्ति यस्तं प्रति देशनेयम् ।
अस्त्यालयः पुद्गल एव चास्ति स्कन्धा इमे वा खलु धातवश्च ।। ६, ४३
यथा तरंगा महतोऽम्बुराशेः समीरणप्रेरणयोद्भवन्ति ।
तथाऽऽलयाख्यादपि सर्वबीजाद् विज्ञानमात्रं भवति स्वशक्तेः ।। ६, ४६
बाह्यो यथा ते विषयो न जातः स्वप्ने तथा नैव मनोऽपि जातम् ।
चक्षुश्च चक्षुर्विषयश्च तज्जं चित्तं च सर्वं त्रयमप्यलीकम् ।। ६, ५१

* पण्डितेन अय्यस्वामिशास्त्रिणा भोटभाषानुवादात् संस्कृतेऽनूदितम् ।

* पण्डितेन अय्यस्वामिशास्त्रिणा भोटभाषानुवादात् संस्कृतेऽनूदितम् ।

जातस्य शक्तेर्नहि संभवोऽस्ति नाजातरूपस्य च शक्तिरस्ति ।
विशेषणं नास्ति विना विशेष्यं वन्ध्यासुतस्यापि च तत्प्रसङ्गः ॥ ६, ५७
भविष्यता चेद् व्यपदेश इष्टः शक्तिं विना नास्ति हि भावितास्य ।
परस्परार्थाश्रयसंप्रसिद्धं न सिद्धमेवेति हि सद्भिरुक्तम् ॥ ६, ५८
*यदान्यतन्त्रं न हि किंचिदस्ति भवेच्च हेतुः खलु संवृतेः कः ।
परस्य वस्तुप्रणयेन नूनं नष्टाऽखिला लोकगता व्यवस्था ॥ ६, ७८
आचार्यनागार्जुनपादमार्गाद् बहिर्गतानां न शिवेऽस्त्युपायः ।
भ्रष्टा हि ते संवृतितत्त्वसत्यात् तद्भ्रंशतश्चास्ति न मोक्षसिद्धिः ॥ ६, ७९
उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम् ।
तयोर्विभागं न परैति यो वै मिथ्याविकल्पैः स कुमार्गयातः ॥ ६, ८०

शान्तिदेवः

बोधिचर्यावतारः

क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी ।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ॥ १, ४
भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्वव्यसनानि हर्तुकामैः ।
बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम् ॥ १, ८
अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमां करोत्यनर्घाम् ।
रसजातमतीव वेधनीयं सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तरत्नम् ॥ १, १०

यमदूतैर्गृहीतस्य कुतो बन्धुः कुतः सुहृत ।
पुण्यमेकं तदा त्राणं मया तच्च न सेवितम् ॥ २, ४२
अद्यैव शरणं यामि जगन्नाथान् महाबलान् ।
जगद्रक्षार्थमुद्युक्तान् सर्वत्रासहरान् जिनान् ॥ २, ४८

न क्लेशा विषयेषु नेन्द्रियगणे नाप्यन्तराले स्थिताः
नातोऽन्यत्र कुह स्थिताः पुनरिमे मथ्नन्ति कृत्स्नं जगत् ।
मायैवेयमतो विमुञ्च हृदय ! त्रासं भजस्वोद्यमम्
प्रज्ञार्थं, किमकाण्ड एव नरकेष्वात्मानमाबाधसे ॥ ४, ४७
शिक्षां रक्षितुकामेन चित्तं रक्ष्यं प्रयत्नतः ।
न शिक्षा रक्षितुं शक्या चलं चित्तमरक्षता ॥ ५,१

बद्धश्चेच्चित्तमातङ्गः स्मृतिरज्ज्वा समन्ततः ।
भयमस्तंगतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम् ॥ ५, ३
भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति ।
उपानच्चर्ममात्रेण च्छन्ना भवति मेदिनी ॥ ५, १३
बाह्या भावा मया तद्वच्छक्या वारयितुं न हि ।
स्वचित्तं वारयिष्यामि किं ममान्यैर्निवारितैः ॥ ५, १४
इमं चर्मपुटं तावत् स्वबुद्ध्यैव पृथक् कुरु ।
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय ॥ ५, ६२
अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः ।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय ॥ ५, ६३
एवं ते रक्षतश्चापि मृत्युराच्छिद्य निर्दयः ।
कायं दास्यति गृध्रेभ्यस्तदा त्वं किं करिष्यसि ॥ ५, ६७
कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत् ।
चिकित्सापाठमात्रेण रोगिणः किं भविष्यति ॥ ५, १०९
स्वप्ने वर्षशतं सौख्यं भुक्त्वा यश्च विबुध्यते ।
मुहूर्तमपरो यश्च सुखी भूत्वा विबुध्यते ॥ ६, ५७
ननु निवर्तते सौख्यं द्वयोरपि विबुद्धयोः ।
सैवोपमा मृत्युकाले चिरजीव्यल्पजीविनोः ॥ ६, ५८
लब्ध्वापि च बहूँल्लाभांश्चिरं भुक्त्वा सुखान्यपि ।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा ॥ ६, ५९
यशोऽर्थं हारयन्त्यर्थमात्मानं मारयन्त्यपि ।
किमक्षराणि भक्ष्याणि मृते कस्य च तत् सुखम् ॥ ६, ९२
एवं क्षमो भजेद् वीर्यं वीर्ये बोधिर्यतः स्थिता ।
न हि वीर्यं विना पुण्यं यथा वायुं विना गतिः ॥ ७, १
मानुष्यं नावमासाद्य तर दुःखमहानदीम् ।
मूढ कालो न निद्राया इयं नौर्दुर्लभा पुनः ॥ ७, १४
कामैर्न तृप्तिः संसारे क्षुरधारामधूपमैः ।
पुण्यामृतैः कथं तृप्तिर्विपाकमधुरैः शिवैः ॥ ७, ६४ ॥
विषं रुधिरमासाद्य प्रसर्पति यथा तनौ ।

तथैव च्छिद्रमासाद्य दोषश्चित्ते प्रसर्पति ॥ ७, ६६
तच्चिन्तया मुधा याति ह्रस्वमायुर्मुहुर्मुहुः ।
अशाश्वतेन मित्रेण धर्मो भ्रश्यति शाश्वतः ॥ ८, ८
अस्थ्यैकस्यापि कायस्य सहजा अस्थिखण्डकाः ।
पृथक् पृथग् गमिष्यन्ति किमुतान्यः प्रियो जनः ॥ ८, ३२
यदा मम परेषां च तुल्यमेव सुखं प्रियम् ।
तदात्मनः को विशेषो येनात्रैव सुखोद्यमः ॥ ८, ६५
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥ ८, १०८
इमं परिकरं सर्वं प्रज्ञार्थं हि मुनिर्जगौ ।
तस्मादुत्पादयेत् प्रज्ञां दुःखनिवृत्तिकाङ्क्षया ॥ ६, १
संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम् ।
बुद्धेरगोचरस्तत्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते ॥ ९, २
तत्र लोको द्विधा दृष्टो योगी प्राकृतकस्तथा ।
तत्र प्राकृतको लोको योगिलोकेन बाध्यते ॥ ९, ३
बाध्यन्ते धीविशेषेण योगिनोऽप्युत्तरोत्तरैः ।
लोकेन भावा दृश्यन्ते कल्प्यन्ते चापि तत्वतः ।
न तु मायावदित्यत्र विवादो योगिलोकयोः ॥ ९, ५
यावत् प्रत्ययसामग्री तावन् मायापि वर्तते ।
दीर्घसन्तानमात्रेण कथं सत्वोऽस्ति सत्यतः ॥ ६, १०
शून्यतावासनाधानाद्धीयते भाववासना ।
किंचिन् नास्तीति चाभ्यासात् सापि पश्चात् प्रहीयते ॥ ६, ३३
यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः ।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥ ६, ३५
शासनं भिक्षुतामूलं भिक्षुतैव च दुःस्थिता ।
सावलम्बनचित्तानां निर्वाणमपि दुःस्थितम् ॥ ६, ४५
क्लेशज्ञेयावृतितमःप्रतिपक्षो हि शून्यता ।
शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम् ॥ ९, ५५-५६

चतुर्थः परिच्छेदः

विज्ञानवादः

असङ्गः

महायानसूत्रालङ्कारः

प्रत्यक्षचक्षुषो बुद्धाः शासनस्य च रक्षकाः ।
अध्वन्यनावृतज्ञाना उपेक्षाऽतो न युज्यते ॥ १, ८

आशयस्योपदेशस्य प्रयोगस्य विरोधतः ।
उपष्टम्भस्य कालस्य यद्धीनं हीनमेव तत् ॥ १, १०

निश्रितोऽनियतोऽव्यापी सांवृतः खेदवानपि ।
बालाश्रयो मतस्तर्कस्तस्याऽतो विषयो न तत् ॥ १, १२

न सन् न चासन् न तथा न चान्यथा न जायते व्येति न चावहीयते ।
न वर्धते नापि विशुध्यते पुनर्विशुध्यते तत् परमार्थलक्षणम् ॥ ६, १

न चात्मदृष्टिः स्वयमात्मलक्षणा न चापि दुःसंस्थितता विलक्षणा ।
द्वयान् न चान्यद्, भ्रम एष उच्यते, ततश्च मोक्षो भ्रममात्रसंक्षयः ॥ ६, २

प्रतीत्यभावप्रभवे कथं जनः समक्षवृत्तिः श्रयतेऽन्यकारितम् ।
तमःप्रकारः कतमोऽयमीदृशो यतोऽविपश्यन् सदसन् निरीक्ष्यते ॥ ६, ४

न चान्तरं किंचन विद्यतेऽनयोः सदर्थवृत्त्या शमजन्मनोरिह ।
तथापि जन्मक्षयतो विधीयते शमस्य लाभः शुभकर्मकारिणाम् ॥ ६, ५

अर्थान् स विज्ञाय च जल्पमात्रान् संतिष्ठते तन्निभचित्तमात्रे ।
प्रत्यक्षतामेति च धर्मधातुस्तस्माद् वियुक्तो द्वयलक्षणेन ॥ ६, ७

नास्तीति चित्तात् परमेत्य बुद्ध्या चित्तस्य नास्तित्वमुपैति तस्मात् ।
द्वयस्य नास्तित्वमुपेत्य धीमान् संतिष्ठतेऽतद्गतिधर्मधातौ ॥ ६, ८

अकल्पनाज्ञानबलेन धीमतः समानुयातेन समन्ततः सदा ।
तदाश्रयो गह्वरदोषसंचयो, महागदेनेव विषं, निरस्यते ॥ ६, ९

ध्यानं चतुर्थं सुविशुद्धमेत्य निष्कल्पनाज्ञानपरिग्रहेण ।
येनार्यदिव्याप्रतिमैर्विहारैर्ब्राह्मैश्च नित्यं विहरत्युदारैः ॥ ७, २-३

हिताशयेनेह यथा जिनात्मजो व्यवस्थितः सर्वजगद् विपाचयन्।
तथा न माता न पिता न बन्धवः सुतेषु बन्धुष्वपि सुव्यवस्थिताः॥ ८,

परित्राणं हि बुद्धत्वं सर्वक्लेशगणात् सदा।
सर्वदुश्चरितेभ्यश्च जन्ममृत्युभयादपि॥ ९, ७
पौर्वापर्यव्यतिक्रान्ता सर्वावरणनिर्मला।
न शुद्धा नापि चाशुद्धा तथता बुद्धता मता॥ ९, २२
शून्यतायां विशुद्धायां नैरात्म्यान् मार्गलाभतः।
बुद्धाः शुद्धात्मलाभित्वाद् गता आत्ममहात्मताम्॥ ९, २३
न भावो नापि चाभावो बुद्धत्वं तेन कथ्यते।
तस्माद् बुद्धतथाप्रश्ने ह्यव्याकृतनयो मतः॥ ९, २४
यथा तोयैस्तृप्तिं व्रजति न महासागर इव
न वृद्धिं वा याति प्रततविशदाम्बुप्रविशनैः।
तथा बौद्धो धातुः सततसमितैः शुद्धिविशनै-
र्न तृप्तिं वृद्धिं वा व्रजति परमाश्चर्यमिह तत्॥ ९, ५५
स्वभावधर्मसम्भोगनिर्माणैर्भिन्नवृत्तिकः।
धर्मधातुर्विशुद्धोऽयं बुद्धानां समुदाहृतः॥ ९, ५९

भिन्नाश्रया भिन्नजलाश्च नद्यः स्वल्पोदकाः कृत्यपृथक्त्वकार्या।
समुद्रविष्टाश्च भवन्ति सर्वा एकाश्रया एकमहाजलाश्च॥ ९, ८३
भिन्नाश्रया भिन्नजलाश्च धीराः स्वल्पावबोधाः पृथगात्मकृत्याः।
बुद्धत्वविष्टाश्च भवन्ति सर्वे एकाश्रया एकमहावबोधाः॥ ९, ८५
तत्त्वं यत् सततं द्वयेन रहितं भ्रान्तेश्च संनिश्रयः
शक्यं नैव च सर्वथाभिलपितुं यच्चाप्रपञ्चात्मकम्।
ज्ञेयं हेयमथो विशोध्यममलं यच्च प्रकृत्या मतं
यस्याकाशसुवर्णवारिसदृशी क्लेशाद् विशुद्धिर्मता॥ ११, १३
विदित्वा नैरात्म्यं द्विविधमिह धीमान् भवगतं
समं तच्च ज्ञात्वा प्रविशति स तत्त्वं ग्रहणतः।
ततस्तत्र स्थानान् मनस इह न ख्याति तदपि
तदख्यानं मुक्तिः परम उपलम्भस्य विगमः॥ ११, ४७
धर्मो नैव च देशितो भगवता प्रत्यात्मवेद्यो यतः

आकृष्टा जनता च युक्तिविहितैर्धर्मैः स्वकीं धर्मताम् ॥ १२, २

धर्मधातुविनिर्मुक्तो यस्माद् धर्मो न विद्यते ।
तस्मात् संक्लेशनिर्देशे स संविद् धीमतां मतः ॥ १३, १२

मतं च चित्तं प्रकृतिप्रभास्वरं सदा तदागन्तुकदोषदूषितम् ।
न धर्मताचित्तमृतेऽन्यचेतसः प्रभास्वरत्वं प्रकृतौ विधीयते ॥ १३, १९

द्वयग्राहविसंयुक्तं लोकोत्तरमनुत्तरम् ।
निर्विकल्पं मलापेतं ज्ञानं स लभते पुनः ॥ १४, २८

अभावशून्यतां ज्ञात्वा तथा भावस्य शून्यताम् ।
प्रकृत्या शून्यतां ज्ञात्वा शून्यज्ञ इति कथ्यते ॥ १४, ३४

संस्कारमात्रं जगदेत्य बुद्ध्या निरात्मकं दुःखविरूढिमात्रम् ।
विहाय योऽनर्थमयात्मदृष्टिं महात्मदृष्टिं श्रयते महार्थाम् ॥ १४, ३७

भोगेषु चानभिरतिस्तीव्रा गुरुता द्वये ह्यखेदश्च ।
योगश्च निर्विकल्पः समस्तमिदमुत्तमं यानम् ॥ १६, ५

पश्यता बोधिमासन्नां सत्त्वार्थस्य च साधनम् ।
तीव्र उत्पद्यते मोदो मुदिता तेन कथ्यते ॥ २०, ३२

दौःशील्याऽऽभोगवैमल्याद् विमला भूमिरुच्यते ।
महाधर्मावभासस्य करणाच्च प्रभाकरी ॥ २०, ३३

अर्चिर्भूता यतो धर्मा बोधिपक्षाः प्रदाहकाः ।
अर्चिष्मतीति तद् योगात् सा भूमिर्द्वयदाहतः ॥ २०, ३४

सत्त्वानां परिपाकश्च स्वचित्तस्य च रक्षणा ।
धीमद्भिर्जीयते दुःखं दुर्जया तेन कथ्यते ॥ २०, ३५

अद्वयस्याभिमुख्याच्च संसारस्यापि निर्वृतेः ।
उक्ता ह्यभिमुखी भूमिः प्रज्ञापारमिताश्रयात् ॥ २०, ३६

एकायनपथाऽऽश्लेषाद् भूमिर्दूरंगमा मता ।
द्वयसंज्ञाऽविचलनादचला च निरुच्यते ॥ २०, ३७

प्रतिसंविन्मतिसाधुत्वाद् भूमिः साधुमती मता ।
धर्ममेघाऽद्वयव्याप्तेर्धर्माकाशस्य मेघवत् ॥ २०, ३८

सर्वावरणनिर्मुक्त सर्वलोकाभिभूर्मुने ।
ज्ञानेन ज्ञेयं व्याप्तं ते मुक्तचित्त नमोऽस्तु ते ॥ २०, ४६

वसुबन्धुः

(१)

अभिधर्मकोशः*

य: सर्वथा सर्वहतान्धकारः संसारपंकाज्जगदुज्जहार।
तस्मै नमस्कृत्य यथार्थशास्त्रे शास्त्रं प्रवक्ष्याम्यभिधर्मकोशम् ॥ १, १
प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्मस्तत्प्राप्तये यापि च यच्च शास्त्रम्।
तस्याऽर्थतोऽस्मिन् समनुप्रवेशात् सो वाश्रयोऽस्येत्यधिर्मकोशः ॥ १, २
सास्रवाऽनास्रवा धर्माः, संस्कृता मार्गवर्जिताः।
सास्रवा आस्रवास्तेषु यस्मात् समनुशेरते ॥ १, ४
अनास्रवा मार्गसत्यं त्रिविधं चाऽप्यसंस्कृतम्।
आकाशं द्वौ निरोधौ च, तत्राकाशमनावृतिः ॥ १, ५
प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक् पृथक्।
उत्पादाऽत्यन्तविघ्नोऽन्यो निरोधोऽप्रतिसंख्यया ॥ १, ६
ते पुनः संस्कृता धर्मा रूपादिस्कन्धपञ्चकम्।
त एवाऽध्वा कथावस्तु सनिःसाराः सवस्तुकाः ॥ १, ७
ये सास्रवा उपादानस्कन्धास्ते सरणा अपि।
दुःखं समुदयो लोको दृष्टिस्थानं भवश्च ते ॥ १, ८
चत्वारः प्रत्यया उक्ता हेत्वाख्यः पञ्चहेतवः। २, ६१
चित्तचैत्ता अचरमा उत्पन्नाः समनन्तराः।
धर्मा आलम्बनं सर्वे पतिः कारणमुच्यते ॥ २, ६२
नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्।
अन्तराभवसंतत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत् ॥ ३, १८
यथाऽऽक्षेपं क्रमाद् वृद्धः सन्तानः क्लेशकर्मभिः।
परलोकं पुनर्यातीत्यनादि भवचक्रकम् ॥ ३, १९
स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वाऽपरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणाः ॥ ३, २२

---

* महापंडितराहुलसांकृत्यायनेन सम्पादितः सम्पूरितश्च।

पूर्वक्लेशदशाऽविद्या, संस्काराः पूर्वकर्मणः ।
सन्धिस्कन्धास्तु विज्ञानं नामरूपमतः परम् ॥ ३, २१
प्राक् षडायतनोत्पादात्, यत् पूर्वं त्रिकसंगमात् ।
स्पर्शः प्राक् सुखदुःखादिकारणज्ञानशक्तितः ॥ ३, २२
वित्तिः प्राङ्मैथुनात्, तृष्णा भोगमैथुनरागिणः ।
उपादानं तु भोगानां प्राप्तये परिधावनम् ॥ ३, २३
स भविष्यद् भवफलं कुरुते कर्म तद्भवः ।
प्रतिसन्धिः पुनर्जातिर्जरामरणमाविदः ॥ ३, २४
क्लेशस्, त्रीणि, द्वयं कर्म, सप्त वस्तु फलं तथा ।
फलहेत्वभिसंक्षेपो द्वयोर्मध्यानुमानतः ॥ ३, २६
क्लेशात् क्लेशः क्रिया चैव ततो वस्तु ततः पुनः ।
वस्तु क्लेशाश्च जायन्ते भवांगानामयं नयः ॥ ३, २७
कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत् ।
चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी ॥ ४, १
तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादिनश्च चतुर्विधाः ॥ ५, २५
ते भाव-लक्षणा-ऽवस्था-ऽन्यथाऽन्यथात्ववादिनः ।
तृतीयः शोभनोऽध्वाऽत्र कारित्रेण व्यवस्थितः ॥ ५, २५

(भदन्तधर्मत्रातो भावान्यथात्वं मन्यते । गुणस्यान्यथात्वं न तु द्रव्यस्य । यथा दधिभावं गते दुग्धे रसादिभावानामन्यथात्वेऽपि न द्रव्यस्यान्यथात्वम् । भदन्तघोषको लक्षणान्यथात्वं मन्यते । यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तः अन्यासु न विरक्तः । भदन्तवसुमित्रो हि अवस्थाऽन्यथात्वं स्वीकरोति । धर्मास्तां तामवस्थां प्राप्य अनागतं प्रत्युत्पन्नं (अतीतं वाऽध्वानं समुपगच्छन्ति । यथा मृद्गुलिका एकांके प्रक्षिप्ता एकमित्युच्यते, दशांके दशेति, शतांके शतमिति तथा कारित्रे व्यवस्थितो भावो वर्तमानस्ततः प्रच्युतोऽतीतः तदप्राप्तोऽनागत इति । भदन्तबुद्धदेवोऽन्यथाऽन्यथात्वं मनुते । यथा एका स्त्री माता चोच्यते दुहिता चेति ।)

काश्मीरवैभाषिकनीतिसिद्धः प्रायो मयायं कथितोऽभिधर्मः । यद् दुर्गृहीतं तदिहास्मदागः सद्धर्मनीतौ मुनयः प्रमाणम् ॥ ८, ४०

(२)

त्रिस्वभावनिर्देशः

कल्पितः परतन्त्रश्च परिनिष्पन्न एव च ।
त्रयः स्वभावा धीराणां गंभीरज्ञेयमिष्यते ॥ १
यत् ख्याति परतन्त्रोऽसौ यथा ख्याति स कल्पितः ।
प्रत्ययाधीनवृत्तित्वात् कल्पनामात्रभावतः ॥ २
तस्य ख्यातुर्यथाख्यानं या सदाऽविद्यमानता ।
ज्ञेयः स परिनिष्पन्नः स्वभावोऽनन्यथात्वतः ॥ ३
कल्पितः परतन्त्रश्च ज्ञेयं संक्लेशलक्षणम् ।
परिनिष्पन्न इष्टस्तु व्यवदानस्य लक्षणम् ॥ १७
चित्तमात्रोपलंभेन ज्ञेयार्थानुपलंभता ।
ज्ञेयार्थानुपलंभेन स्याच्चित्तानुपलंभता ॥ ३६ ॥
द्वयोरनुपलंभेन धर्मधातूपलंभता ।
धर्मधातूपलंभेन स्याद् विभुत्वोपलंभता ॥ ३७
उपलब्धविभुत्वश्च स्वपरार्थप्रसिद्धितः ।
प्राप्नोत्यनुत्तरां बोधिं धीमान् कायत्रयात्मिकाम् ॥ ३८

(३)

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

विंशतिका-कारिकाः स्वोपज्ञवृत्तिसहिताः

विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात् ।
यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम् ॥ १

महायाने त्रैधातुकं विज्ञप्तिमात्रं व्यवस्थाप्यते । चित्तं मनो विज्ञानं विज्ञप्तिश्चेति पर्यायाः । चित्तमत्र ससंप्रयोगमभिप्रेतम् । मात्रमित्यर्थप्रतिषेधार्थम् । अत्र चोद्यते—

यदि विज्ञप्तिरनर्था नियमो देशकालयोः ।
सन्तानस्याऽनियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च ॥ २

यदि विना रूपं रूपादिविज्ञप्तिरुत्पद्यते न रूपाद्यर्थात्, कस्मात् क्व-

चिद् देशे उत्पद्यते न सर्वत्र, कदाचिदुत्पद्यते न सर्वदा, तद्देशकाल-प्रतिष्ठितानां सर्वेषां सन्तान उत्पद्यते न केवलमेकस्य, यदन्नपानादि स्वप्ने दृश्यते तेन अन्नादिक्रिया न क्रियते ।

देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवत् पुनः ।
सन्तानाऽनियमः सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने ॥ ३
स्वप्नोपघातवत् कृत्यक्रिया नरकवत् पुनः ।
सर्वं, नरकपालादिदर्शने तैश्च बाधने ॥ ४

स्वप्ने विनाप्यर्थेन क्वचिदेव देशे किंचिन् नगरारामस्त्रीपुरुषादिकं दृश्यते, न सर्वत्र । तत्रैव च देशे कदाचिद् दृश्यते न सर्वकालमिति सिद्धो विनाप्यर्थेन देशकालनियमः । प्रेतवत् पुनः सन्तानाऽनियमः सिद्धः । प्रेतानामिव प्रेतवत् । तुल्यकर्मविपाकावस्था हि प्रेताः सर्वेऽपि पूयपूर्णां नदीं पश्यन्ति, नैक एव । एवं सन्तानाऽनियमो विज्ञप्तीनामसत्यप्यर्थे सिद्धः । स्वप्नोपघातवत् कृत्यक्रिया सिद्धा । यथा द्वयसमापत्तिमन्तरेण शुक्रविसर्गलक्षणः स्वप्नोपघातः । एवं तावदन्यैर्दृष्टान्तैरपि देशकालनियमादिचतुष्टयं सिद्धम् । नरकवत् पुनः सर्वं सिद्धमिति वेदितव्यम् ।

यदि तत्कर्मभिस्तत्र भूतानां संभवस्तथा ।
इष्यते, परिणामश्च किं विज्ञानस्य नेष्यते ॥ ६
कर्मणो वासनाऽन्यत्र फलमन्यत्र कल्प्यते ।
तत्रैव नेष्यते यत्र वासना, किं नु कारणम् ॥ ७

तेषां तर्हि नारकाणां कर्मभिस्तत्र भूतविशेषाः संभवन्ति ये नरकपालादिसंज्ञां प्रतिलभन्ते । न नरकपालादयो नारकं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति । विज्ञानस्यैव तत्कर्मभिस्तथा परिणामः कस्मान् नेष्यते ? किं पुनर्भूतानि कल्प्यन्ते ? कर्मणो वासना विज्ञानसन्तानसन्निविष्टा नान्यत्र । (तस्याः फलं कस्माद् बहिर्भूतरूपं कल्प्यते ?) यत्रैव च वासना तत्रैव तस्याः फलं तादृशो विज्ञानपरिणामः किं नेष्यते ? (यद्यत्र) आगमः कारणं (इत्युच्यते), अकारणमेतद् यस्मात्—

रूपाद्यायतनास्तित्वं तद् विनेयजनं प्रति ।
अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुकसत्त्ववत् ॥ ८

'अथास्ति सत्त्व उपपादुक' इति उक्तं भगवता अभिप्रायवशात् चित्तसन्तत्यनुच्छेदमायत्यामभिप्रेत्य। 'नास्तीह सत्त्व आत्मा वा धर्मास्त्वेते सहेतुकाः। इति वचनात्।

तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो ह्यन्यथा पुनः।
देशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः कल्पितात्मना॥ १०

ज्ञानषट्कं प्रवर्तते, न तु कश्चिदेको द्रष्टास्ति इत्येवं विदित्वा ये पुद्गलनैरात्म्यदेशनाविनेयास्ते पुद्गलनैरात्म्यं प्रविशन्ति। अन्यथेति विज्ञप्तिमात्रदेशना। तया धर्मनैरात्म्यप्रवेशः। विज्ञप्तिमात्रमिदं रूपादिधर्मप्रतिभासमुत्पद्यते न तु रूपादिलक्षणो धर्मः कोप्यस्तीति विदित्वा। यदि तर्हि सर्वथा धर्मो नास्ति तदपि विज्ञप्तिमात्रं नास्तीति कथं तर्हि व्यवस्थाप्यते? (उच्यते) न खलु सर्वथा धर्मो नास्तीत्येवं धर्मनैरात्म्यप्रवेशो भवति। अपि तु कल्पितात्मना। यो बालै धर्माणां स्वभावो ग्राह्यग्राहकादिः परिकल्पितस्तेन कल्पितेनात्मना तेषां नैरात्म्यं न त्वनभिलप्येनात्मना यो बुद्धानां विषय इति। एवं विज्ञप्तिमात्रस्यापि विज्ञप्त्यन्तरपरिकल्पितेनात्मना नैरात्म्यप्रवेशात् विज्ञप्तिमात्रव्यवस्थापनया सर्वधर्माणां नैरात्म्यप्रवेशो भवति, न तु तदास्तित्वापवादात्।

प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा।
न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम्॥ १६

रूपादीनां चक्षुरादिविषयत्वमसिद्धमिति सिद्धं विज्ञप्तिमात्रम्। (अत्र पर आह) प्रमाणवशात् अस्तित्वं नास्तित्वं वा विधीयते। सर्वेषां च प्रमाणानां प्रत्यक्षप्रमाणं गरिष्ठमित्यसत्यर्थे कथमियं बुद्धिर्भवति प्रत्यक्षमिति। यदा च सा प्रत्यक्षबुद्धिर्न भवति 'इदं मे प्रत्यक्ष' मिति (यथा स्वप्नादौ) तदा न सोऽर्थो दृश्यते। मनोविज्ञानेनैव परिच्छेदात् चक्षुर्विज्ञानस्य च तदा निरुद्धत्वात्। कथं तस्य प्रत्यक्षत्वमिष्टम्। नाननुभूतं मनोविज्ञानेन स्मर्यते इत्यवश्यमर्थानुभवेन भवितव्यम्।

उक्तं यथा तदाभासा विज्ञप्तिः स्मरणं ततः।
स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाऽप्रबुद्धोऽवगच्छति॥ १७

(उक्तमस्माभिः) यद् विनाप्यर्थेन यथार्थाभासा चक्षुर्विज्ञानादिका विज्ञप्तिरुत्पद्यते। ततो हि विज्ञप्तेः स्मृतिसंप्रयुक्ता तत्प्रतिभासैव रूपादि-

विकल्पिका मनोविज्ञप्तिरुत्पद्यते इति न स्मृत्युत्पादात् अर्थानुभवः सिध्यति। (अत्र पर आह–) यदि यथा स्वप्ने विज्ञप्तिरभूतार्थविषया तथा जाग्रतोऽपि स्यात् तथैव तद्भावं लोकः स्वयमवगच्छेत्। न चैवं भवति। तस्मान् न स्वप्न इव अर्थोपलब्धिः सर्वा निरर्थिका। (अत्रोच्यते) इदमज्ञापकम्। यस्मात् स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोऽवगच्छति। एवं वितथविकल्पाभ्यासवासनानिद्रया प्रसुप्तो लोकः स्वप्न इवाभूतमर्थं पश्यन् अप्रबुद्धस्तदभावं यथावन् नावगच्छति। यदा तु तत्प्रतिपक्षलोकोत्तर-निर्विकल्पज्ञानलाभात् प्रबुद्धो भवति तदा तत्पृष्ठलब्धशुद्धलौकिकज्ञानस-म्मुखीभावाद् विषयाभावं यथावदवगच्छति।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया।
कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धगोचरः॥ २२

त्रिंशिका–कारिकाः

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामेऽसौ, परिणामः स च त्रिधा॥ १
विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च।
तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम्॥ २
तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे, तदाश्रित्य प्रवर्तते।
तदालम्बं मनो नाम विज्ञानं मननात्मकम्॥ ५
द्वितीयः परिणामोऽयं, तृतीयः षड्विधस्य या।
विषयस्योपलब्धिः सा कुशलाकुशलाद्वया॥ ८
विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते।
तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्॥ १७
कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत्॥ १९
येन येन विकल्पेन यद् यद् वस्तु विकल्प्यते।
परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते॥ २०
परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः।
निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या॥ २१

अत एव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः।
अनित्यतादिवद् वाच्यो नादृष्टेऽस्मिन् स दृश्यते॥ २२
त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।
सन्धाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता॥ २३
प्रथमो लक्षणेनैव निःस्वभावोऽपरः पुनः।
न स्वयं भाव एतस्येत्यपरा निःस्वभावता॥ २४
धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथतापि सः।
सर्वकालं तथा भावात् सैव विज्ञप्तिमात्रता॥ २५
यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठते।
ग्राहद्वयस्यानुशयस्तावन् न विनिवर्तते॥ २६
विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः।
स्थापयन्नग्रतः किञ्चित् तन्मात्रे नावतिष्ठते॥ २७
अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानितः॥ २९
स एवाऽनास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः॥ ३०

स्थिरमतिः

त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्यम्

पुद्गलधर्मनैरात्म्ययोरप्रतिपन्नविप्रतिपन्नानामविपरीतपुद्गलधर्मनैरात्म्यप्रतिपादनार्थं त्रिंशिकाविज्ञप्तिप्रकरणारम्भः। पुद्गलधर्मनैरात्म्यप्रतिपादनं पुनः क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणार्थम्। तथाह्यात्मदृष्टिप्रभवा रागादयः क्लेशाः। पुद्गलनैरात्म्यावबोधश्च सत्कायदृष्टेः प्रतिपक्षत्वात् तत्प्रहाणाय प्रवर्तमानः सर्वक्लेशान् प्रजहाति। धर्मनैरात्म्यज्ञानादपि ज्ञेयावरणप्रतिपक्षत्वात् ज्ञेयावरणं प्रहीयते। क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणमपि मोक्षसर्वज्ञत्वाधिगमार्थम्। क्लेशा हि मोक्षप्राप्तेरावरणमतस्तेषु प्रहीणेषु मोक्षोऽधिगम्यते। ज्ञेयावरणमपि सर्वस्मिन् ज्ञेये ज्ञानप्रवृत्तिप्रतिबंधभूतमक्लिष्टमज्ञानम्। तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहतं च ज्ञानं वर्तत इत्यतः सर्वज्ञत्वमधिगम्यते। विज्ञानवद् विज्ञेयमपि द्रव्यत एवेति केचिन् मन्यन्ते।

विज्ञेयवद् विज्ञानमपि संवृतित एव न परमार्थत इत्यन्ये। इत्यस्य द्विप्रकारस्याप्येकान्तवादस्य प्रतिषेधार्थं प्रकरणारम्भः।

आत्मा धर्माश्चोपचर्यन्त इति आत्मधर्मोपचारः। आत्मा जीवो जन्तुः, स्कन्धा धातव आयतनानि धर्माः। परिणामो नाम अन्यथात्वम्। कारणक्षणनिरोधसमकालः कारणक्षणविलक्षणः कार्यस्यात्मलाभः परिणामः। तत्रात्मादिविकल्पवासनापरिपोषाद् रूपादिविकल्पवासनापरिपोषात् चालयविज्ञानात् आत्मादिनिर्भासो विकल्पो रूपादिनिर्भासश्चोत्पद्यते। तमात्मादिनिर्भासं रूपादिनिर्भासं च तस्माद् विकल्पाद् बहिर्भूतमिवोपादाय आत्माद्युपचारो रूपादिधर्मोपचारश्च अनादिकालिकः प्रवर्तते विनापि बाह्येनात्मना धर्मैश्च। यच्च यत्र नास्ति तत् तत्रोपचर्यते। यथा वाहीके गौः। एवं विज्ञानस्वरूपे बहिश्चात्मधर्माभावात् परिकल्पित एवात्मा धर्माश्च न तु परमार्थतः सन्तीति विज्ञानवद् विज्ञेयमपि द्रव्यत एवेति अयमेकान्तवादो नाभ्युपेयः। उपचारस्य च निराधारस्याऽसंभवात् अवश्यं विज्ञानपरिणामोऽस्तीत्युपगन्तव्यो यत्रात्मधर्मोपचारः प्रवर्तते। अतश्चायमुपगमो न युक्तिक्षमो विज्ञानमपि विज्ञेयवद् संवृतित एव न परमार्थत इति। संवृतितोऽप्यभावप्रसङ्गात्। न हि संवृतिर्निरुपादाना युज्यते। तस्मादयमेकान्तवादो द्विप्रकारोऽपि निर्युक्तिकत्वात् त्याज्य इत्याचार्यवचनम्।

विनैव बाह्येनार्थेन विज्ञानं संचिताकारमुत्पद्यते। परमाणवो नैवालम्बनम्। यदि च परमाणव एव परस्परापेक्षया विज्ञानस्य विषयीभवन्ति, एवं च सति योयं घटकुड्याद्याकारभेदो विज्ञाने स न स्यात् परमाणूनां अतदाकारत्वात्। न च अन्यनिर्भासस्य विज्ञानस्यान्याकारो विषयो युज्यते अतिप्रसंगात्। न च परमाणवः परमार्थतः सन्ति, अर्वाङ्मध्यपरभागसद्भावात्। एवं बाह्यार्थाभावात् विज्ञानमेवार्थाकारमुत्पद्यते स्वप्नविज्ञानवदित्यभ्युपेयम्।

सर्वसांक्लेशिककर्मबीजस्थानत्वात् आलयः। आलयः स्थानम्। अथवाऽऽलीयन्ते उपनिबध्यन्तेऽस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन। यद्वाऽऽलीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेष्वित्यालयः। विजानातीति विज्ञानम्। सर्वधातुगतियोनिजातिषु कुशलाकुशलकर्मविपाकत्वात् विपा-

क:। सर्वधर्मबीजाश्रयत्वात् सर्वबीजकम्। सदा स्पर्श-मनस्कारा-ऽदुःखा-
ऽसुखवेदना-संज्ञा-चेतनाख्यैः पञ्चभिः सर्वत्रगैर्धर्मैरन्वितम्। न हि तदेक-
मभिन्नमासंसारमनुवर्तते, क्षणिकत्वात्। किं तर्हि ? तच्च वर्तते स्रोतसो-
घवत्। स्रोतो हेतुफलयोर्नैरन्तर्येण प्रवृत्तिः। उदकसमूहस्य पूर्वापरभा-
गाविच्छेदेन प्रवाह ओघ इत्युच्यते। यथा ह्योघस्तृणकाष्ठगोमयादीनाक-
र्षयन् गच्छति एवमालयविज्ञानमपि पुण्यापुण्यकर्मवासनानुगतं स्पर्शमन-
स्कारादीनाकर्षयत् स्रोतसा संसारमव्युपरतं प्रवर्तत इति। तस्य
व्यावृत्तिरर्हत्वे। क्षयज्ञानानुत्पादज्ञानलाभात् अर्हन् इत्युच्यते। तस्यां ह्यव-
स्थायां आलयविज्ञानाश्रितदौष्ठुल्यनिरवशेषप्रहाणात् आलयविज्ञानं व्यावृत्तं
भवति। सैव चार्हदवस्था।

संसारनिवृत्तिरपि आलयविज्ञानेऽसति न युज्यते। संसारस्य हि कर्म
क्लेशाश्च कारणम्। अतस्तेषु प्रहीणेषु संसारो विनिवर्तते नान्यथा। न
चालयविज्ञानमन्तरेण तत्प्रहाणं युज्यते।

येन येन विकल्पेन यद् यद् वस्तु विकल्प्यते आध्यात्मिकं बाह्यं
वान्तशो यावद् बुद्धधर्मा अपि परिकल्पित एवासौ स्वभावः। न स विद्यते
सत्ताभावात्। तस्मात् सर्वमिदं विकल्पमात्रमेव तदर्थस्य परिकल्पितरूप-
त्वात्। परिकल्पः कुशलाकुशलाव्याकृतभेदभिन्नास्त्रैधातुकाश्चित्तचैत्ता इति।

परैर्हेतुप्रत्ययैस्तन्त्र्यते इति परतन्त्रः उत्पाद्यते इत्यर्थः। स्वतोऽन्यहे-
तुप्रत्ययप्रतिबद्धात्मलाभः।

अविकारपरिनिष्पत्त्या परिनिष्पन्नः। तस्येति परतन्त्रस्य पूर्वेणेति।
परिकल्पितेन ग्राह्यग्राहकरूपेण सर्वकालं अत्यन्तरहितता या स परिनिष्प-
न्नस्वभावः। यदि हि परिनिष्पन्नः परतन्त्रात् अन्यः स्यात् एवं न परि-
कल्पितेन परतन्त्रः शून्यः स्यात्। अथाऽनन्य एवमपि परिनिष्पन्नो न
विशुद्ध्यालम्बनः स्यात् परतन्त्रवत् संक्लेशात्मकत्वात्। एवं परतन्त्रश्च
न क्लेशात्मकः स्यात् परिनिष्पन्नवत्। परिनिष्पन्ने अदृष्टे तत्पृष्ठलब्ध-
शुद्धलौकिकज्ञानगम्यत्वात् परतन्त्रो न दृश्यते। परिनिष्पन्नश्चाकाशवदे-
करसं ज्ञानम्। निर्विकल्पेन ज्ञानेनाकाशसमतायां सर्वधर्मान् पश्यतीति
परतन्त्रधर्माणां तथतामात्रदर्शनात्।

प्रथमः परिकल्पितः स्वभावो लक्षणेनैव निःस्वभावः। स्वरूपाभावात्

खपुष्पवत्। अपरः परतन्त्रस्वभावः न स्वयं भावः। एतस्य मायावत् परप्रत्ययेनोत्पत्तेः। अतोऽस्य उत्पत्तिनिःस्वभावता। परमं हि लोकोत्तरं ज्ञानं निरुत्तरत्वात् तस्यार्थः परमार्थः। अथ वा आकाशवत् सर्वत्रैकरसार्थेन वैमल्याविकारार्थेन च परिनिष्पन्नः स्वभावः परमार्थ उच्यते। स सर्वधर्माणां परतन्त्रात्मकानां परमार्थः तद्धर्मतेति कृत्वा। तस्मात् परिनिष्पन्न एव स्वभावः परमार्थनिःस्वभावता। सर्वकालं तथैव भवति नान्यथेति तथतेत्युच्यते। सैव विज्ञप्तिमात्रता।

यावदद्वयलक्षणे विज्ञप्तिमात्रे योगिनश्चित्तं न प्रतिष्ठितं भवति तावद् ग्राह्यग्राहकानुशयो न प्रहीयते। यः पुनराभिमानिकः श्रुतमात्रकेण जानीयादहं विज्ञप्तिमात्रतायां शुद्धायां स्थित इति तद्ग्रहव्युदासार्थमाह— 'विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलंभतः' इति। ग्राह्याभावे ग्राहकाभावमपि प्रतिपद्यते, न केवलं ग्राह्याभावम्। एवं हि निर्विकल्पं लोकोत्तरं ज्ञानमुत्पद्यते ग्राह्यग्राहकाभिनिवेशानुशयाः प्रहीयन्ते स्वचित्तधर्मतायां च चित्तमेवं स्थितं भवति। यथोक्तम्—

'नोपलंभं यदा धातुं स्पृशते भावनान्वयात्।
सर्वावरणनिर्मोक्षं विभुत्वं लभते तदा॥' इति।

(अयं च विज्ञप्तिमात्रधातुः) ग्राह्यार्थानुपलंभात् ग्राहकचित्ताभावात् अचित्तः। लोके समुदाचाराभावात् अनुपलंभः। निर्विकल्पत्वात् लोकोत्तरं ज्ञानम्। आश्रयोऽत्र सर्वबीजकमालयविज्ञानम्। तस्याश्रयस्य परावृत्तिः क्लेशज्ञेयावरणदौष्ठुल्यहानितः। द्विधा आवरणभेदेन सोत्तरा निरुत्तरा च। निर्दौष्ठुल्यत्वात् स तु आस्रवविगतः इत्यनास्रवः। आर्यधर्महेतुत्वात् धातुः। अचिन्त्यस्तर्काऽगोचरत्वात् प्रत्यात्मवेद्यत्वात्। कुशलो विशुद्धालम्बनत्वात् क्षेमत्वात् अनास्रवधर्ममयत्वात् च। ध्रुवो नित्यत्वात् अक्षयतया। सुखो नित्यत्वादेव यदनित्यं तद् दुःखं अयं च नित्यः इत्यस्मात् सुखः। क्लेशावरणप्रहाणात् विमुक्तिकायः। स एव आश्रयपरावृत्तिलक्षणो धर्माख्योऽप्युच्यते क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणात्। महामुनेर्धर्मकाय इत्युच्यते। संसारपरित्यागात् यत् अनुपसंक्लेशत्वात् सर्वधर्मविभुत्वलाभतश्च धर्मकायः। परममौनेययोगाद् बुद्धो भगवान् महामुनिः।

पञ्चमः परिच्छेदः

स्वतन्त्रविज्ञानवादः

दिङ्नागः

प्रमाण-समुच्चयः*

प्रथमः परिच्छेदः

प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने ।
प्रमाणसिद्ध्यै स्वकृतिप्रकीर्णनात् निबध्यते विप्रसृतं समुच्चितम् ॥ १

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम् ।
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥
नान्तरीयकार्थदर्शनं तद् विदोऽनुमानम् ।
अनुमेयेऽथ तत् तुल्ये सद्भावो नास्तिता सति ॥
परार्थानुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशकम् ।

सर्वोऽयमनुमानानुमेयभावो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते ।

(२)

आलम्बनपरीक्षा† (स्ववृत्तिसमेता)

यद्यपीन्द्रियविज्ञप्तेर्ग्राह्यांशः कारणं भवेत् ।
अतदात्मतया तस्या नाक्षवद् विषयः स तु ॥ १

यदन्तर्ज्ञेयरूपं हि बहिर्वदवभासते ।
सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत्प्रत्ययतयापि च ॥ ६
प्रत्ययोऽव्यभिचारित्वात् सह शक्त्यर्पणात् क्रमात् ।
सहकारिवशाद् यद्धि शक्तिरूपं तदिन्द्रियम् ॥ ७

---

* ग्रन्थोऽयं संस्कृतभाषायां नोपलभ्यते । अस्य प्रथमः परिच्छेदः भोटभाषानुवादात् पण्डितरंगस्वामि अय्यंगरेण संस्कृतभाषायामनूदितः । एच्. एन्. रेन्डलमहोदयेन न्यायग्रन्थेषु उद्धृतानि दिङ्नागवचनानि एकत्र प्रकाशितानि ।

† पण्डित अय्यस्वामिशास्त्रिणा भोटभाषानुवादात् संस्कृतेऽनूदिता ।

धर्मकीर्तिः

(१)

न्यायबिन्दुः

सम्यग् ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते। द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्। प्रत्यक्षमनुमानं च। तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्। अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना।

(प्रत्यक्षस्य) विषयः स्वलक्षणम्। यस्यार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्। तदेव परमार्थसत्। अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः। अन्यत् सामान्यलक्षणम्। तदनुमानस्य विषयः।

अनुमानं द्विधा। स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं त्रिरूपात् लिंगात् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्। त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्वमेव, सपक्षे सत्वं, विपक्षे चासत्वम्। त्रिरूपलिंगाख्यानं परार्थानुमानम्।

(२)

प्रमाणवार्तिकम्

विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये।
नमः समन्तभद्राय समन्तस्फुरणत्विषे॥ १, १
संसृज्यन्ते न भिद्यन्ते स्वतोऽर्थाः पारमार्थिकाः।
रूपमेकमनेकं च तेषु बुद्धेरुपप्लवः॥ १, ८८
शब्दाः संकेतितं प्राहु र्व्यवहाराय स स्मृतः।
तदा स्वलक्षणं नास्ति संकेतस्तेन तत्र न॥ १, ९३
शब्दाश्च बुद्धयश्चैव वस्तुन्येषामसंभवात्।
एकत्वाद् वस्तुरूपस्य भिन्नरूपा मतिः कुतः॥ १, १३६
स पारमार्थिको भावो य एवार्थक्रियाक्षमः॥ १, १६७
सर्वासां दोषजातीनां जातिः सत्कायदर्शनात्।
साऽविद्या तत्र तत्स्नेहस्तस्माद् द्वेषादिसम्भवः॥ १, २२४
अपौरुषेयतापीष्टा कर्तॄणामस्मृतेः किल।

सन्त्यस्याप्यनुवक्तार इति धिग् व्यापकं तमः ॥ १, २४१

यस्य प्रमाणसम्वादि वचनं तत्कृतं वचः ।
स आगम इति प्राप्तं निरर्थाऽपौरुषेयता ॥ १, ३१७

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥ २, ३२

दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टन्तु पश्यतु ।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेहि गृध्रानुपास्महे ॥ २, ३३

अनित्यत्वेन योऽवाच्यः स हेतुर्न हि कस्यचित् ।
नित्यं तमाहुर्विद्वांसो यत्स्वभावो न नश्यति ॥ २, २०४

अर्थक्रियासमर्थं यद् तदत्र परमार्थसत् ।
अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ॥ ३, ३

इदं वस्तुबलायातं यद् वदन्ति विपश्चितः ।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥ ३, २०६

हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन ।
तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते ॥ ३, २२४

न ग्राह्यग्राहकाकारबाह्यमस्ति च लक्षणम् ।
अतो लक्षणशून्यत्वान् निःस्वभावाः प्रकाशिताः ॥ ३, २१५

तत्रैकस्याप्यभावे च द्वयमप्यवहीयते ।
तस्मात् तदेव तस्यापि तत्त्वं या द्वयशून्यता ॥ ३, २१३

तदुपेक्षिततत्त्वार्थैः कृत्वा गजनिमीलनम् ।
केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्यचिन्ता प्रतन्यते ॥ ३, २१९

प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानं तेषां तद्भावनामयम् ।
विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते ॥ ३, २८१

अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ ३, ३५४

मंत्राद्युपप्लुताक्षाणां यथा मृच्छकलादयः ।
अन्यथैवावभासन्ते तद्रूपरहिता अपि ॥ ३, ३५५

केनेयं सर्वचिन्तासु शाब्दं ग्राह्यमिति स्थितिः ।
कृतेदानीमसिद्धान्तैर्ग्राह्यो धूमेन नानलः ॥ ४, ५३

अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना-
प्यदृष्टपरमार्थसारमधिकाभियोगैरपि ।
मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं
प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम् ॥ ४, २८६

शान्तरक्षितः

तत्त्वसङ्ग्रहः

प्रकृतीशोभयात्मादिव्यापाररहितं चलम् ।
कर्म तत्फलसम्बन्धव्यवस्थादिसमाश्रयम् ॥ १
गुणद्रव्यक्रियाजातिसमवायाद्युपाधिभिः ।
शून्यमारोपिताकारशब्दप्रत्ययगोचरम् ॥ २
स्पष्टलक्षणसंयुक्तप्रमाद्वितयनिश्चितम् ।
अणीयसापि नांशेन मिश्रीभूतापरात्मकम् ॥ ३
असंक्रान्तिमनाद्यन्तं प्रतिबिम्बादिसन्निभम् ।
सर्वप्रपञ्चसन्दोहनिर्मुक्तमगतं परैः ॥ ४
स्वतन्त्रः श्रुतिनिःसंगो जगद्धितविधित्सया ।
अनल्पकल्पासंख्येयसात्मीभूतमहादयः ॥ ५
यः प्रतीत्यसमुत्पादं जगाद गदतां वरः ।
तं सर्वज्ञं प्रणम्यायं क्रियते तत्त्वसंग्रहः ॥ ६

प्रकृतिपरीक्षा अशेषशक्तिप्रचितात् प्रधानादेव केवलात् ।
कार्यभेदाः प्रवर्तन्ते तद्रूपा एव भावतः ॥ ७
यदि दध्यादयः सन्ति दुग्धाद्यात्मसु सर्वथा ।
तेषां सतां किमुत्पाद्यं हेत्वादिसदृशात्मनाम् ॥ १७
अथास्त्यतिशयः कश्चिदभिव्यक्त्यादिलक्षणः ।
यं हेतवः प्रकुर्वाणा न यान्ति वचनीयताम् ॥ १९
प्रागासीद्यद्यसावेवं न किंचिद्द दत्तमुत्तरम् ।
नो चेत् सोऽसत् कथं तेभ्यः प्रादुर्भावं समश्नुते ॥ २०
अव्यक्तो व्यक्तिभाक् तेभ्य इति चेद् व्यक्तिरस्य का ।
न रूपातिशयोत्पत्तिरविभागादसंगतेः ॥ २६

उत्पादो वस्तुभावस्तु सोऽसता न सता तथा ।
सम्बध्यते कल्पिकया केवलं त्वसता धिया ॥ ३२
सिद्धेपि त्रिगुणे व्यक्ते न प्रधानं प्रसिध्यति ।
एकं तत्कारणं नित्यं नैकजात्यन्वितं हि तत् ॥ ४१
प्रधानहेत्वभावेऽपि ततः सर्वं प्रकल्पते ।
शक्ते भेदेन वैचित्र्यं कार्यकारणतादिकम् ॥ ४५

ईश्वरपरीक्षा सर्वोत्पत्तिमतामीशमन्ये हेतुं प्रचक्षते ।
नाचेतनं स्वकार्याणि किल प्रारभते स्वयम् ॥ ४६
किन्तु नित्यैकसर्वज्ञनित्यबुद्धिसमाश्रयः ।
साध्यवैकल्यतोऽव्याप्ते र्न सिद्धिमुपगच्छति ॥ ७२
बुद्धिमत्पूर्वकत्वं च सामान्येन यदीष्यते ।
तत्र नैव विवादो नो वैश्वरूप्यं हि कर्मजम् ॥ ८०
नेश्वरो जन्मिनां हेतुरुत्पत्तिविकलत्वतः ।
गगनाम्भोजवत् सर्वमन्यथा युगपद् भवेत् ॥ ८७

ब्रह्मपरीक्षा अथाविभागमेवेदं ब्रह्मतत्त्वं सदा स्थितम् ।
अविद्योपप्लवाल्लोको विचित्रं त्वभिमन्यते ॥ १४४
न तत् प्रत्यक्षतः सिद्धमविभागमभासनात् ।
नित्यादुत्पत्त्ययोगेन कार्यलिङ्गं च तत्र न ॥ १४७
ज्ञानं ज्ञेयक्रमात् सिद्धं क्रमवत् सर्वमन्यथा ।
यौगपद्येन तत् कार्यं विज्ञानमनुषज्यते ॥ १४९
ज्ञानमात्रेऽपि नैवास्य शक्यरूपं ततः परम् ।
भवतीति प्रसक्ताऽस्य वन्ध्यासूनुसमानता ॥ १५०

पुरुषपरीक्षा अन्ये त्वीशसधर्माणं पुरुषं लोककारणम् ।
कल्पयन्ति दुराख्यातसिद्धान्तानुगबुद्धयः ॥ १५३
समस्तवस्तुप्रलयेऽप्यलुप्तज्ञानशक्तिमान् ।
ऊर्णनाभ इवांशूनां स हेतुः किल जन्मिनाम् ॥ १५४
अस्यापीश्वरवत् सर्वं वचनीयं निषेधनम् ।
किमर्थं च करोत्येष व्यापारमिममीदृशम् ॥ १५५

यद्यन्येन प्रयुक्तत्वान् न स्यादस्य स्वतन्त्रता ।
अथानुकम्पया, कुर्यादेकान्तसुखितं जगत् ॥ १५६
आधिदारिद्र्यशोकादिविविधायासपीडितम् ।
जनं तु सृजतस्तस्य काऽनुकम्पा प्रतीयते ॥ १५७
सृष्टेः प्रागनुकम्प्यानामसत्वे नोपपद्यते ।
अनुकम्पापि यद् योगाद् धातायं परिकल्पते ॥ १५८
क्रीडार्था तस्य वृत्तिश्चेत् क्रीडायां न प्रभुर्भवेत् ।
विचित्रक्रीडनोपायव्यपेक्षातः शिशुर्यथा ॥ १६१
अथ स्वभावतो वृत्तिः सर्गादावस्य वर्ण्यते ।
पावकादेः प्रकृत्यैव यथा दाहादिकर्मणि ॥ १६४
यद्येवमखिला भावा भवेयुर्युगपत् ततः ।
तदुत्पादनसामर्थ्ययोगिकारणसन्निधेः ॥ १६५
प्रकृत्यैवांशुहेतुत्वमूर्णनाभेऽपि नेष्यते ।
प्राणिभक्षणलाम्पट्याल् लालाजालं करोति यत् ॥ १६८
यथा कथंचिद् वृत्तिश्चेद् बुद्धिमत्ताऽस्य कीदृशी ।
नासमीक्ष्य यतः कार्यं शनकोऽपि प्रवर्तते ॥ १६९
शौर्यात्मजादयो येऽपि धातारः परिकल्पिताः ।
एतेनैव प्रकारेण निरस्तास्तेऽपि वस्तुतः ॥ १७०

आत्मपरीक्षा अन्ये पुनरिहात्मानमिच्छादीनां समाश्रयम् ।

(क) न्यायमतनिरासः स्वतोऽचिद्रूपमिच्छन्ति नित्यं सर्वगतं तथा ॥ १७१
ज्ञानयत्नादिसम्बन्धः कर्तृत्वं तस्य भण्यते ।
सुखदुःखादिसम्वित्तिसमवायस्तु भोक्तृता ॥ १७३
क्वचित् समाश्रितत्वं च यदीच्छादेः प्रसाध्यते ।
तथापि गतिशून्यस्य निष्फलाऽऽधारकल्पना ॥ १८१-१८२
अहंकाराश्रयत्वेन चित्तमात्मेति गीयते ।
संवृत्या, वस्तुवृत्त्या तु विषयोऽस्य न विद्यते ॥ २०४
अन्यैः प्रत्यक्षसिद्धत्वमात्मनः परिकल्पितम् ।
न हि नित्यविभुत्वादिनिर्भासस्तत्र लक्ष्यते ॥ २१२-२१३

तस्मादिच्छादयः सर्वे नैवात्मसमवायिनः ।
क्रमेणोत्पद्यमानत्वाद् बीजांकुरलतादिवत् ॥ २१७

(ख) मीमांसामतनिरासः व्यावृत्त्यनुगमात्मानमात्मानमपरे पुनः ।
चैतन्यरूपमिच्छन्ति चैतन्यं बुद्धिलक्षणम् ॥ २२२
तदत्र चिन्त्यते नित्यमेकं चैतन्यमिष्यते ।
यदि, बुद्धिरपि प्राप्ता तद्रूपैव तथा सति ॥ २४१
सर्वार्थबोधरूपा च यदि बुद्धिः सदा स्थिता ।
सर्वदा सर्वसंवित्तिस्तत् किमर्थं न विद्यते ॥ २५३
यदि कर्तृत्वभोक्तृत्वे नैवावस्थां समाश्रिते ।
तदवस्थावतस्तत्वान् न कर्तृत्वादिसंभवः ॥ २७२
तन्नित्यशब्दवाच्यत्वमात्मनो विनिवार्यते ।
स्वरूपविक्रियावत्त्वाद् व्युच्छेदस्तस्य विद्यते ॥ २७३
सर्पोऽपि क्षणभंगित्वात् कौटिल्यादीन् प्रपद्यते ।
स्थिररूपे तु पुंसीव नावस्थान्तरसंगतिः ॥ २७४
निरालम्बन एवायमहंकारः प्रवर्तते ।
अनादिसत्त्वदृग्बीजप्रभावात् क्वचिदेव हि ॥ २७५

(ग) सांख्यमतनिरासः चैतन्यमन्ये मन्यन्ते भिन्नं बुद्धिस्वरूपतः ।
आत्मनश्च निजं रूपं चैतन्यं कल्पयन्ति ते ॥ २८५
प्रधानेनोपनीतं च फलं भुङ्क्ते स केवलम् ।
कर्तृत्वं नैव तस्यास्ति प्रकृतेरेव तन्मतम् ॥ २८६
एकरूपे च चैतन्ये सर्वकालमवस्थिते ।
नानाविधार्थभोक्तृत्वं कथं नामोपपद्यते ॥ २८८
शुभाशुभं च कर्मास्ति नैव चेदात्मना कृतम् ।
तदेष भोगभेदोऽस्य कुतः समुपजायते ॥ २९१
अभिलाषानुरूपेण प्रकृतिश्चेत् प्रयच्छति ।
पङ्ग्वन्धवद्धि सम्बन्धस्तयोरेष व्यवस्थितः ॥ २९२
अर्थोपभोगकाले च यदि नैवास्य विक्रिया ।
नैव भोक्तृत्वमस्य स्यात् प्रकृतिर्नोपकारिणी ॥ २९४

विक्रियायाश्च सद्भावे नित्यत्वमवहीयते ।
अन्यथात्वं विकारो हि तादवस्थ्ये च तत् कथम् ।। २९५
प्रतिबिम्बोदयद्वारा चैवमस्योपभोक्तृता ।
न जहाति स्वरूपं तु पुरुषोऽयं कदाचन ।। २९७
उच्यते प्रतिबिम्बस्य तादात्म्येन समुद्भवे ।
तदेवोदययोगित्वं विभेदे तु न भोक्तृता ।। २९८
चैतन्ये चात्मशब्दस्य निवेशेऽपि न नः क्षतिः ।
नित्यत्वं तस्य दुःसाध्यमद्यादेः सफलत्वतः ।। ३०५
कर्तुं नाम प्रजानाति प्रधानं व्यञ्जनादिकम् ।
भोक्तुं च न विजानाति किमयुक्तमतः परम् ।। ३००

(घ) जैनमतनिरासः जैमिनीया इव प्राहुर्जैनाश्चिल्लक्षणं नरम् ।
द्रव्यपर्यायरूपेण व्यावृत्त्यनुगमात्मकम् ।। ३११
अगौणे चैवमेकत्वे द्रव्यपर्याययोः स्थिते ।
व्यावृत्तिमद् भवेद् द्रव्यं पर्यायाणां स्वरूपवत् ।। ३१७
यदि वा तेऽपि पर्यायाः सर्वेऽप्यनुगमात्मकाः ।
द्रव्यवत् प्राप्नुवन्त्येषां द्रव्येणैकात्मता स्थितेः ।। ३१८
ततो निरन्वयो ध्वंसः स्थिरं वा सर्वमिष्यताम् ।
एकात्मनि तु नैव स्तो व्यावृत्त्यनुगमाविमौ ।। ३२१

(ङ) औपनिषदमतनिरासः नित्यज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः ।
आत्मा तदात्मकश्चेति संगिरन्तेऽपरे पुनः ।। ३२८
ग्राह्यलक्षणसंयुक्तं न किंचिदिह विद्यते ।
विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात् सर्वः समीक्ष्यते ।। ३२९
तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः ।
रूपशब्दादिविज्ञाने व्यक्तं भेदोपलक्षणात् ।। ३३०
विपर्यस्ताविपर्यस्तज्ञानभेदो न विद्यते ।
एकज्ञानात्मके पुंसि बन्धमोक्षौ ततः कथम् ।। ३३३
तत्त्वज्ञानं न चोत्पाद्यं तादात्म्यात् सर्वदा स्थितेः ।
योगाभ्यासोऽपि तेनायमफलः सर्व एव च ।। ३३५

(च) वात्सीपुत्रीयमतनिरासः केचित् तु सौगतंमन्या अप्यात्मानं प्रचक्षते ।
पुद्गलव्यपदेशेन तत्त्वान्यत्वादिवर्जितम् ॥ ३३६
ते वाच्याः पुद्गलो नैव विद्यते पारमार्थिकः ।
तत्त्वान्यत्वादवाच्यत्वान् नभःकोकनदादिवत् ॥ ३३८
अन्यत्वं वाप्यनन्यत्वं वस्तु नैवातिवर्तते ।
वस्तुनो यत्तु नीरूपं तदवाच्यं प्रकल्प्यते ॥ ३३९
अर्थक्रियासु शक्तिश्च विद्यमानत्वलक्षणम् ।
क्षणिकेष्वेव नियता तथाऽवाच्ये न वस्तुता ॥ ३४७
आगमार्थविरोधे तु पराक्रान्तं महात्मभिः ।
नास्तिक्यप्रतिषेधाय चित्रा वाचो दयावतः ॥ ३४८
स्थिरभावपरीक्षा सर्वत्रैवानपेक्षाश्च विनाशे जन्मिनोऽखिलाः ।
सर्वथा नाशहेतूनां तत्राऽकिंचित्करत्वतः ॥ ३५७
यो हि भावः क्षणस्थायी विनाश इति गीयते । ३७५
अतो विनाशसद्भावान् न नित्याः सर्वसंस्कृताः ॥ ३७७
वस्त्वनन्तरभावित्वं न तत्र त्वस्ति तादृशि ।
चलभावस्वरूपस्य भावेनैव सहोदयात् ॥ ३७६
उत्पादानन्तराऽस्थायि स्वरूपं यच्च वस्तुनः ।
तदुच्यते क्षणः सोऽस्ति यस्य तत् क्षणिकं मतम् ॥ ३८८
असत्यप्यर्थभेदे च सोऽस्त्यस्येति न बाध्यते ।
इच्छारचितसंकेतमात्रभावि हि वाचकम् ॥ ३८९
अथापि सन्ति नित्यस्य क्रमिणः सहकारिणः ।
यानपेक्ष्य करोत्येष कार्यग्रामं क्रमाश्रयम् ॥ ३९६
साध्वेतत् किन्तु ते तस्य भवन्ति सहकारिणः ।
किं योग्यरूपहेतुत्वादेकार्थकरणेन वा ॥ ३९७
योग्यरूपस्य हेतुत्वे स भावस्तैः कृतो भवेत् ।
स चाशक्यक्रियो यस्मात् तत् स्वरूपं सदा स्थितम् ॥ ३९८
कृतौ वा तत्स्वरूपस्य नित्यताऽस्यावहीयते ।
विभिन्नोऽतिशयस्तस्माद्यद्यसौ कारकः कथम् ॥ ३९९
तस्मिन् सति हि कार्याणामुत्पादस्तदभावतः ।

अनुत्पादात् स एवैवं हेतुत्वेन व्यवस्थितः ॥ ४००
अथापि तेन सम्बन्धात् तस्याप्यस्त्येव हेतुता ।
कः सम्बन्धस्तयोरिष्टस्तादात्म्यं न विभेदतः ॥ ४०१

न च तस्य तदुत्पत्तिर्यौगपद्यप्रसङ्गतः ।
ततश्च यौगपद्येन कार्याणामुदयो भवेत् ॥ ४०२
तत्राप्यन्यव्यपेक्षायामनवस्था प्रसज्यते ।
एकदापि ततः कार्यं नासम्बन्धात् प्रकल्प्यते ॥ ४०३

कर्मफलसम्बन्धपरीक्षा कर्म तत्फलयोरेवमेककर्त्रऽपरिग्रहात् ।
कृतनाशाऽकृतप्राप्तिरासक्ताऽतिविरोधिनी ॥ ४७६

यथा हि नियता शक्तिर्बीजादेरङ्कुरादिषु ।
अन्वयात्मवियोगेऽपि तथैवाध्यात्मिके स्थितिः ॥ ५०२
पारम्पर्येण साक्षाद् वा क्वचित् किंचिद्धि शक्तिमत् ।
ततः कर्मफलादीनां सम्बन्ध उपपद्यते ॥ ५०३

कर्तृत्वादि व्यवस्था तु सन्तानैक्यविवक्षया ।
कल्पनारोपितैवेष्टा नाङ्ग सा तत्त्वसंस्थितेः ॥ ५०४

तस्मादनष्टात् तद्धेतोः प्रथमक्षणभाविनः ।
कार्यमुत्पद्यते शक्ताद् द्वितीयक्षण एव तु ॥ ५१२

विनष्टात् तु भवेत् कार्यं तृतीयादिक्षणे यदि ।
यौगपद्यप्रसङ्गोऽपि प्रथमे यदि तद् भवेत् ॥ ५१४

य आनन्तर्यनियमः सैवापेक्षाभिधीयते ।
सत्तैव व्यापृतिस्तस्यां सत्यां कार्योदयो यतः ॥ ५२०-५२१

अहीनसत्त्वदृष्टीनां क्षणभेदविकल्पना ।

सन्तानैक्याभिमानेन न कथंचित् प्रवर्तते ॥ ५४१

अभिसम्बुद्धतत्त्वास्तु प्रतिक्षणविनाशिनाम् ।
हेतूनां नियमं बुद्ध्वा प्रारभन्ते शुभाः क्रियाः ॥ ५४२

कार्यकारणभूताश्च तत्राऽविद्यादयो मताः ।
बन्धस्तद्विगमादिष्टा मुक्तिर्निर्मलता धियः ॥ ५४४

द्रव्यपरीक्षा तत्र नित्यागुरूपाणामसत्त्वमुपपादितम् ।
निःशेषवस्तुविषयक्षणभङ्गप्रसाधनात् ॥ ५५१
तदारब्धस्त्ववयवी गुणावयवभेदवान् ।
नैवोपलभ्यते तेन न सिध्यत्यप्रमाणकः ॥ ५५६

गुणपरीक्षा द्रव्याणां प्रतिषेधेन सर्व एव तदाश्रिताः ।
गुणकर्मादयोऽपास्ता भवन्त्येव तथा मताः ॥ ६३४

कर्मपरीक्षा क्षणस्थिषु भावेषु कर्मोत्क्षेपाद्यसंभवि ।
जातदेशे च्युतेरेव तदन्यप्राप्त्यसंभवात् ॥ ६९२
देशान्तरोपलब्धेस्तु नैरन्तर्येण जन्मनः ।
समानापरवस्तूनां गतिभ्रान्तिः प्रदीपवत् ॥ ७०७

सामान्यपरीक्षा द्रव्यादिषु निषिद्धेषु जातयोऽपि निराकृताः ।
पदार्थत्रयवृत्ता हि सर्वास्ताः परिकल्पिताः ॥ ७०८
वाहदोहादिरूपेण कार्यभेदोपयोगिनि ।
गवादिश्रुतिसंकेतः क्रियते व्यवहर्तृभिः ॥ ७२८
नाभिधानविकल्पानां वृत्तिरस्ति स्वलक्षणे ।
सर्वं वाग्गोचरातीतमूर्ति येन स्वलक्षणम् ॥ ७३४

विशेषपरीक्षा ये पुनः कल्पिता एते विशेषा अन्त्यभाविनः ।
नित्यद्रव्यव्यपोहेन तेऽप्यसंभाविताः क्षणाः ॥ ८१२

समवायपरीक्षा यद्येकः समवायः स्यात् सर्वेष्वेव च वस्तुषु ।
कपालादिष्वपि ज्ञानं पटादीति प्रसज्यते ॥ ८३५
सम्बन्धिनो निवृत्तौ हि सम्बन्धोऽस्तीति दुर्घटम् ।
नहि संयुक्तनाशेऽपि संयोगो नोपतिष्ठते ॥ ८५७
यथा संयोगभावे तु संयुक्तानामवस्थितिः ।
समवायस्य सद्भावे तथा स्यात् समवायिनाम् ॥ ८५८

शब्दार्थपरीक्षा यस्य यस्य हि शब्दस्य यो यो विषय उच्यते ।
स स संविद्यते नैव, वस्तूनां सा हि धर्मता ॥ ८७०
तथा हि द्विविधोऽपोहः पर्युदासनिषेधतः ।
द्विविधः पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्मार्थात्मभेदतः ॥ १००४

तत्रायं प्रथमः शब्दैरपोहः प्रतिपाद्यते ।
बाह्यार्थाध्यवसायिन्या बुद्धेः शब्दात् समुद्भवात् ॥ १०११
तद्रूपप्रतिबिम्बस्य धियः शब्दाच्च जन्मनि ।
वाच्यवाचकभावोऽयं जातो हेतुफलात्मकः ॥ १०१२
साक्षादाकार एतस्मिन्नेवं च प्रतिपादिते ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि सामर्थ्येन प्रतीयते ॥ १०१३
तासां हि बाह्यरूपत्वं कल्पितं तन्न वास्तवम् ।
भेदाभेदौ च तत्त्वेन वस्तुन्येव व्यवस्थितौ ॥ १०४७
नैकात्मतां प्रपद्यन्ते न भिद्यन्ते च खण्डशः ।
स्वलक्षणात्मका अर्था विकल्पः प्लवते त्वसौ ॥ १०४८

अवेद्यबाह्यतत्त्वाऽपि प्रकृष्टोपप्लवादियम् ।
स्वोल्लेखं बाह्यरूपेण शब्दधीरध्यवस्यति ॥ १०६६
एतावत् क्रियते शब्दैर्नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि ।
नापोहेन विशिष्टश्च कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥ १०६७
वस्त्वित्यध्यवसायत्वान् नावस्तुत्वमपोहयोः ।
प्रसिद्धं सांवृते मार्गे तात्त्विके त्विष्टसाधनम् ॥ १०८९

प्रत्यक्षलक्षणपरीक्षा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमभिलापिनी ।
प्रतीतिः कल्पना, क्लृप्तिहेतुत्वाद्यात्मिका न तु ॥ १२१४
जात्यादियोजनायोग्यामप्यन्ये कल्पनां विदुः ।
सा जात्यादेरपास्तत्वाददृष्टेश्च न संगता ॥ १२१६
तस्मात् स्वलक्षणे ज्ञानं यत् किंचित् संप्रवर्तते ।
वाक्पथातीतविषयं सर्वं तन्निर्विकल्पकम् ॥ १२८५
केशोण्डूकादिविज्ञाननिवृत्त्यर्थमिदं कृतम् ।
अभ्रान्तग्रहणं तद्धि भ्रान्तत्वान् नेष्यते प्रमा ॥ १३१२

अनुमानलक्षणपरीक्षा स्वपरार्थविभागेन त्वनुमानं द्विधेष्यते ।
स्वार्थं त्रिरूपतो लिङ्गादनुमेयार्थदर्शनम् ॥ १३६२
त्रिरूपलिङ्गवचनं परार्थं पुनरुच्यते । १३६३
आचार्यैरपि निर्दिष्टमीदृक् संक्षेपलक्षणम् ।

पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुरितीदृशम् ॥ १३८५

न प्रमाणमिति प्राहुरनुमानं तु केचन ।
विवक्षामर्पयन्तोऽपि वाग्भिराभिः कुदृष्टयः ॥ १४५६

प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च द्विधैवार्थो व्यवस्थितः । १७०१

बहिरर्थपरीक्षा अनिर्भासं सनिर्भासमन्यनिर्भासमेव च ।
विजानाति न च ज्ञानं बाह्यमर्थं कथंचन ॥ १९९९

विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते ।
इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजडरूपता ॥ २०००

तदस्य बोधरूपत्वाद् युक्तं तावत् स्ववेदनम् ।
परस्य त्वर्थरूपस्य तेन संवेदनं कथम् ॥ २००२

विज्ञानत्वं प्रकाशत्वं तच्च ग्राह्ये निरास्पदम् ।
अनिर्भासाद्ययोगेन व्याप्तिस्तेनास्य निश्चिता ॥ २०८२

शक्तावनन्तरे ज्ञाने ग्राह्यांशो विषयस्थितिः ।
तात्विकी नेष्यतेऽस्माभिस्तेन मानं समर्थ्यते ॥ २०८३

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिर्धीमद्भिर्विमलीकृता ।
अस्माभिस्तद् दिशायातं परमार्थविनिश्चये ॥ २०८४

श्रुतिपरीक्षा वेदो नरं निराशंसो ब्रूतेऽर्थं न सदा स्वतः ।
अन्धात्तयष्टितुल्यां तु पुंव्याख्यां समपेक्ष्यते ॥ २३७४

किं च वेदप्रमाणत्वे निर्बन्धो यदि वो ध्रुवम् ।
निर्दोषकर्तृकत्वादौ तदा यत्नो विधीयताम् ॥ २४००

प्रज्ञाकृपादियुक्तानां तथा हि सुविनिश्चिताः ।
पौरुषेय्योऽपि सद्वाचो यथार्थज्ञानहेतवः ॥ २४०२

तस्यां वस्तुनिबद्धायाः को बाधां मंस्यते जडः ।
शब्दमात्रेण तुच्छेन तद्भाविन्याऽथवा धिया ॥ २४३९

मिथ्यानुरागसंजातवेदाभ्यासजडीकृतैः ।
मिथ्यात्वहेतुरज्ञात इति चित्रं न किंचन ॥ २४४६

अतीन्द्रियार्थदृक् तस्माद् विधूतान्तस्तमश्चयः ।
वेदार्थप्रविभागज्ञः कर्ता चाभ्युपगम्यताम् ॥ ३१२३

अतीन्द्रियदर्शिपुरुषपरीक्षा क्व च बुद्धादयो मर्त्याः क्व च देवोत्तमत्रयम् ।
येन तत्स्पर्द्धया तेऽपि सर्वज्ञा इति मोहदृक् ॥ ३२०६
यतस्तु मूर्खशूद्रेभ्यः कृतं तैरुपदेशनम् ।
ज्ञायते तेन दुष्टं तत् सांवृतं कूटकर्मवत् ॥ ३२२७
सर्वार्थविषयं ज्ञानं यस्य दृश्यः स ते कथम् ।
सर्वार्थविषयं ज्ञानं तवापि यदि नो भवेत् ॥ ३२७६
स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानमात्मज्योतिः स पश्यति ॥ ३२६०
अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयङ्करम् ।
विनयेभ्यो हितायोक्तं नैरात्म्यं तेन तु स्फुटम् ॥ ३३२२
प्रभास्वरमिदं चित्तं तत्त्वदर्शनसात्मकम् ।
प्रकृत्यैव स्थितं यस्मान् मलास्त्वागन्तवो मताः ॥ ३४३५
तस्मात् स्वसंवेदनात्मत्वं चेतसोऽपि प्रकाशनात् ।
अनारोपितरूपा च स्वसंवित्तिरियं स्थिता ॥ ३४३७
अतो निर्मलनिष्कम्पगुणसन्दोहभूषणः ।
दोषव्राताऽविकम्प्यात्मा सर्वज्ञो गम्यते जिनः ॥ ३४४०
यतोऽभ्युदयनिष्पत्तिर्यतो निःश्रेयसस्य च ।
स धर्म उच्यते तादृक् सर्वैरेव विचक्षणैः ॥ ३४८६
आत्मात्मीयदृगाकारसत्त्वदृष्टिः प्रवर्तते ।
अहं ममेति माने च क्लेशोऽशेषः प्रवर्तते ॥ ३४८६
तदत्यन्तविनिर्मुक्तेरपवर्गश्च कीर्त्यते ।
अद्वितीयशिवद्वारमतो नैरात्म्यदर्शनम् ॥ ३४९२
एतदेव हि तज्ज्ञानं यद्विशुद्धात्मदर्शनम् ।
आगन्तुकमलापेतचित्तमात्रत्ववेदनात् ॥ ३५३५
अवेद्यवेदकाकारा बुद्धिः पूर्वं प्रसाधिता ।
द्वयोपप्लवशून्या च सा सम्बुद्धैः प्रकाशिता ॥ ३५३६
प्रकृत्या भास्वरे चित्ते द्वयाकाराकलंकिते ।
द्वयाकाराविमूढात्मा कः कुर्यादन्यथा मतिम् ॥ ३५३८
इदं तत् परमं तत्त्वं तत्त्ववादी जगाद यत् ।
सर्वसम्पत्प्रदं चैव केशवादेरगोचरः ॥ ३५४०

तस्माज्जगद्धिताधानदीक्षिताः करुणात्मकाः ।
अनिबन्धनबन्धुत्वादाहुः सर्वेषु तत्पदम् ॥ ३५६६

नैवावाहविवाहादिसम्बन्धो वाञ्छितो हि तैः ।
उपकारस्तु कर्तव्यः, साधु गीतमिदं ततः ॥ ३५७२

"विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥" ३५७४

अतीतश्च महान् कालो योषितां चातिचापलम् ।
शतशः प्रतिषिद्धायां जातौ जातिमदश्च किम् ॥ ३५७५

वेदाधीतिजडाविप्रा न परीक्षाक्षमा इति ।
विप्रेभ्य एव वेदादेः कृतं तैरुपदेशनम् ॥ ३५८२

यैः पुनः स्वोक्तिषु स्पष्टं युक्तार्थत्वं विनिश्चितम् ।
तत्प्रत्यायनसामर्थ्यमात्मनश्च महात्मभिः ॥ ३५८६

कुतीर्थ्यमत्तमातङ्गमदग्लानिविधायिनम् ।
एवमस्ताखिलत्रासाः सिंहनादं नदन्ति ते ॥ ३५८७

"तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् ॥" ३५८८

॥ श्रीः ॥

सौगत-सिद्धान्त-सार-संग्रह

विनयपिटक

महावग्ग (महावर्ग)

उन भगवान् अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध को नमस्कार !

१, १, १. उस समय बुद्ध भगवान् **उरुवेला** (बुद्ध गया) में विहार करते हुये **नेरञ्जरा** (फल्गु) नदी के तट पर बोधिवृक्ष के नीचे प्रथम बार अभिसम्बुद्ध हुये। तब भगवान् ने प्रतीत्यसमुत्पाद पर अनुलोम और प्रतिलोम रीति से विचार किया। अविद्या के होने पर संस्कार, संस्कार के होने पर विज्ञान, विज्ञान के होने पर नाम-रूप, नामरूप के होने पर षडायतन, षडायतन के होने पर स्पर्श, स्पर्श के होने पर वेदना, वेदना के होने पर तृष्णा, तृष्णा के होने पर उपादान, उपादान के होने पर भव, भव के होने पर जाति और जाति के होने पर जरामरण—शोक, रोना पीटना, व्याधि, आधि और व्याकुलता आदि—उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इस केवल दुःख-स्कन्ध का समुदय होता है।

१, १, २. अविद्याजन्य समस्त रागद्वेष के नष्ट होने पर संस्कार, संस्कार के नष्ट होने पर विज्ञान, विज्ञान के नष्ट होने पर नामरूप, नामरूप के नष्ट होने पर षडायतन, षडायतन के नष्ट होने पर स्पर्श, स्पर्श के नष्ट होने पर वेदना, वेदना के नष्ट होने पर तृष्णा, तृष्णा के नष्ट होने पर उपादान, उपादान के नष्ट होने पर भव, भव के नष्ट होने पर जाति और जाति के नष्ट होने पर जरामरण—शोक, रोना पीटना, व्याधि, आधि और व्याकुलता आदि—नष्ट होते हैं। इस प्रकार इस केवल दुःखस्कन्ध का निरोध होता है।

१, १, ५. मैंने (बुद्ध ने) इस धर्म का साक्षात्कार किया—यह धर्म गंभीर है, कठिनता से देखने और जानने योग्य है, शान्त है, अत्युत्तम है, तर्क से अगम्य है, निपुण (अतिसूक्ष्म) है और पण्डितों द्वारा ही साक्षात् किया जा सकता है। लोग तृष्णासक्ति में लिप्त हैं, उसी में लगे हैं, उसी में प्रसन्न हैं। इन तृष्णासक्त, तृष्णारत और तृष्णाप्रमुदित लोगों के लिये कार्य-कारण-शृङ्खला-रूप प्रतीत्य

समुत्पाद को समझना अत्यन्त कठिन है। इन लोगों के लिये निर्वाण पाना भी अत्यन्त कठिन है—वह निर्वाण जहाँ समस्त संस्कारों का उपशम, सम्पूर्ण उपाधियों का त्याग, सारी तृष्णा का क्षय और इहामुत्र वैराग्य होता है।

उन लोगों के लिये अमृत के द्वार खुले हैं जो मेरे उपदेशों को सुन कर उनमें श्रद्धा करते हैं। (उन लोगों के लिये अमृत के द्वार बन्द हैं जो सद्धर्म को कानों से सुन कर भी उसमें श्रद्धा नहीं करते।)

१, १, ७. इसके बाद भगवान् ने सर्वप्रथम वाराणसी (बनारस) के ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ) में पाँच भिक्षुओं के समुदाय को यह उपदेश दिया—भिक्षुओ ! मैं अर्हत् हूँ, तथागत हूँ, सम्यक् सम्बुद्ध हूँ। तुम मेरे उपदेश को कान लगा कर सुनो। अमृत प्राप्त हो चुका है। मैं अनुशासन करता हूँ। मैं धर्म का उपदेश देता हूँ। भिक्षुओं ! प्रव्रज्या लेने वाले को दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिये। कौन से दो ? एक तो कामसुखों में आसक्ति जो हीन है, ग्राम्य है, पृथग्जनोचित है, अनार्य है और अनर्थों की जड़ है और दूसरी आत्मक्लेशों में आसक्ति जो दुःखमय है, अनार्य है और अनर्थों की जड़ है। भिक्षुओं ! इन दोनों अन्तों को छोड़ कर तथागत ने मध्यम मार्ग का साक्षात्कार किया है।

भिक्षुओ ! दुःख (प्रथम) आर्यसत्य है। जाति (जन्म) दुःख है, जरा दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मृत्यु भी दुःख है, अप्रियसंयोग भी दुःख है, प्रियवियोग भी दुःख है, इच्छा पूर्ण न होना भी दुःख है—संक्षेप में पाँचों उपादान-स्कन्ध दुःखरूप हैं। (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—ये पाँच स्कन्ध हैं)

भिक्षुओ ! दुःख-समुदय (द्वितीय) आर्यसत्य है। (द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादचक्र का चलना ही दुःख-समुदय है और अविद्या इसकी जननी है) अविद्याजन्य तृष्णा, जो अविच्छिन्न गति से चलती है और जिसके कारण संसार में आनन्द, आसक्ति और प्रमोद होता है, तीन प्रकार की है—कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा (यह तृष्णा ही दुःखसमुदय है)

भिक्षुओ ! दुःख-निरोध (तृतीय) आर्यसत्य है। (अविद्यानाश से द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पादचक्र का निरोध ही दुःख निरोध है) उसी तृष्णा का अशेष निरोध होना, उसका त्याग, उसका सर्वथा क्षय होने पर जो अनासक्ति रूप निर्विकल्पावस्था होती है वही मुक्ति है।

भिक्षुओ ! दुःख-निरोध-मार्ग (चतुर्थ) आर्यसत्य है। यही आर्य अष्टांगिक मार्ग है—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि। यह मध्यमा प्रतिपत् तथागत ने साक्षात् की है।

भिक्षुओ ! जब मुझे इन चार आर्यसत्यों का तेहरा करके द्वादशाङ्ग यथार्थ-ज्ञान स्पष्ट हो गया तब मैंने कहा कि मैंने देव और मार तथा ब्रह्मा सहित लोक में और श्रमण-ब्राह्मण एवं देव-मनुष्य वाली प्रजा में अद्वितीय सर्वोत्तम सम्यक् सम्बोधि को पा लिया।

१, १, ८. इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने वाराणसी के ऋषिपत्तन मृगदाव में सर्वप्रथम यह अद्वितीय धर्मचक्र चलाया, जिस धर्मचक्र को पहले कभी किसी श्रमण ने या ब्राह्मण ने या देवता ने या मार ने या ब्रह्मा ने या किसी और ने इस लोक में नहीं चलाया था।

१, २, ५. भिक्षुओ ! तुम, बहुत लोगों के हित के लिये, सुख के लिये, लोकानुकम्पा के लिये, देव-मनुष्यों के अर्थ, हित और सुख के लिये भिक्षु-चर्या करो। भिक्षुओ ! तुम इस आदि-कल्याण, मध्य-कल्याण, अन्त-कल्याण, सार्थक, सुन्दर शब्दों से युक्त, केवल, परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्म-चर्या का प्रकाश फैलाओ।

१, ४, २. जो धर्म हेतुप्रभव (हेतु-प्रत्यय-समुत्पन्न) हैं उनके हेतु को तथागत ने बताया है और उस महाश्रमण ने उनके निरोध को भी बताया है। इसे जान लेने पर यह विरज, विमल धर्मचक्षु उत्पन्न होती है कि जिन-जिन धर्मों का उदय है उनका निरोध भी है।

सुत्तपिटक (सूत्रपिटक)

दीघनिकायो (दीर्घनिकाय)

१. भिक्षुओ ! कुछ श्रमण और ब्राह्मण शाश्वतवाद को मानते हैं और वे आत्मा तथा लोक को शाश्वत बतलाते हैं। कुछ श्रमण और ब्राह्मण उच्छेदवाद को मानते हैं और वे सत्व का उच्छेद तथा विनाश बतलाते हैं। कितने ही श्रमण और ब्राह्मण ऐसे हैं जो अंशतः शाश्वतवाद और अंशतः उच्छेदवाद मानते हैं और वे आत्मा तथा लोक को अंशतः नित्य और अंशतः अनित्य बतलाते हैं।

भिक्षुओ ! ये श्रमण और ब्राह्मण या तो पूर्वान्तकल्पिक है या अपरान्तकल्पिक और या पूर्वान्तापरान्तकल्पिक। ये लोग बासठ कारणों से इन मतों को मानते हैं और इनके आधार पर अनेक प्रकार के व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग करते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कारण नहीं मानते।

भिक्षुओ ! तथागत इन सब कारणों को जानते हैं और इनसे भी अधिक जानते हैं; किन्तु तथागत, सब कुछ जानते हुये भी, जानने का अभिमान नहीं करते। इन बुद्धि-कोटियों में न फँसने के कारण तथागत निर्वाण का साक्षात् करते हैं। वेदनाओं की उत्पत्ति, विनाश, अस्वाद, दोष और निवृत्ति को यथार्थतया जान कर तथागत इनमें अनासक्त हैं और इसीलिये विमुक्त हैं।

भिक्षुओ ! ये धर्म गम्भीर, दुर्ज्ञेय, दुरनुबोध, शान्त, अत्युत्तम, तर्क से अगम्य, निपुण और पण्डितों के जानने योग्य हैं, जिन्हें तथागत स्वयं जान कर तथा साक्षात् कर बतलाते हैं। जो तथागत के यथार्थ वर्णों को ठीक-ठीक जानते हैं वे ऐसा कहते हैं। (ब्रह्मजाल सूत्र)

(मगधराज अजातशत्रु भगवान् बुद्ध से कहते हैं—)

२. भन्ते ! एक बार पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप) से श्रामण्यफल (भिक्षु होने का फल) के बारे में पूछने पर उन्होंने अपने अक्रियवाद का प्रतिपादन किया—यदि कोई तेज छुरों वाले चक्र द्वारा इस सारी पृथ्वी के प्राणियों को एक माँस का खलियान बना दे, एक माँस का पुञ्ज बना दे, तो भी उसे कोई पाप नहीं लगेगा। इसी प्रकार दान से, दम से, संयम से या सत्य बोलने से कोई पुण्य नहीं होगा।

भन्ते ! एक बार मक्खलि गोसाल से श्रामण्यफल के बारे में पूछने पर उन्होंने अपने अहेतुवाद का प्रतिपादन करते हुये संसार की शुद्धि का उपाय बताया—सत्वों के क्लेश का कोई हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है और न सत्वों की विशुद्धि का ही कोई हेतु या प्रत्यय है।

भन्ते ! एक बार अजित केसकम्बली (अजित केशकम्बली) से श्रामण्यफल के बारे में पूछने पर उन्होंने अपने उच्छेदवाद या जड़वाद का प्रतिपादन किया—न दान है, न यज्ञ-याग है, न सुकृत है, न दुष्कृत है, न कर्मफल का विपाक है, न यह लोक है, न परलोक है। चार महाभूतों से बना हुआ यह मनुष्य जब मर

जाता है तो पृथ्वी महापृथ्वी में, जल महाजल में, तेज महातेज में और वायु महावायु में मिल जाते हैं और इन्द्रियाँ आकाश में लीन हो जाती हैं।

भन्ते ! एक बार पकुध कच्चायन (प्रकुद्ध कात्यायन) से श्रामण्यफल के बारे में पूछने पर उन्होंने पूछा क्या और उत्तर क्या देते हुये अपने अकृततावाद का प्रतिपादन किया—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीव—ये सात काय अकृत, अनिर्मित, कूटस्थ हैं। ये चल नहीं होते, ये विकृत नहीं होते और न ये एक दूसरे को हानि पहुँचाते हैं। न कोई मारने वाला है, न कोई मृत्यु कराने वाला है, न कोई सुनने वाला है, न कोई सुनाने वाला है, न कोई जानने वाला है, न कोई ज्ञान कराने वाला है।

भन्ते ! एक बार निगण्ठ नातपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र = महावीर वर्धमान) से श्रामण्यफल के बारे में पूछने पर उन्होंने अपने चातुर्याम संवरवाद का प्रतिपादन किया—निर्ग्रन्थ जल के उन सब व्यवहारों का वारण करता है जिनमें जल-कीटाणुओं के मरने का भय हो (अहिंसा); निर्ग्रन्थ सब गुणों से (सत्य आदि से) युक्त होता है; निर्ग्रन्थ सब पापों से रहित होता है तथा निर्ग्रन्थ सब पापों के वारण करने में रहता है। इस प्रकार निर्ग्रन्थ चार संवरों से संवृत रहता है।

भन्ते ! एक बार संजय वेलट्ठिपुत्त से श्रामण्यफल के बारे में पूछने पर उन्होंने अनिश्चिततावाद का प्रतिपादन किया—मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता; मैं 'नहीं' भी नहीं कहता, मैं 'नहीं' नहीं है' यह भी नहीं कहता; मैं 'है' भी नहीं कहता मैं 'नहीं है' भी नहीं कहता; मैं 'है और नहीं है' यह भी नहीं कहता, मैं "है' भी नहीं है और 'नहीं' भी नहीं है' यह भी नहीं कहता।

भन्ते ! अब मैं आपसे भी पूछता हूँ कि श्रामण्यफल क्या है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—महाराज ! असली श्रामण्यफल तो यह है कि भिक्षु बुद्धि की समस्त दृष्टियों का अतिक्रमण करके शील, समाधि और प्रज्ञासम्पन्न होता है। वह (पाँचों नीवरणों को—काम, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य और विचिकित्सा को नष्ट करके) सवितर्क, सविचार और विवेक से उत्पन्न प्रीतिसुख वाले प्रथम ध्यान को पाकर विहार करता है। फिर वह वितर्क और विचार के शान्त हो जाने से मनःप्रसाद के कारण चित्तैकाग्रता से युक्त समाधि से उत्पन्न प्रीतिसुख वाले द्वितीय ध्यान को पाकर विहार करता है। फिर वह प्रीति और विराग की भी उपेक्षा

करके स्मृतिमान् होकर सुखविहार वाले तृतीय ध्यान को प्राप्त होकर विहार करता है। और फिर वह सुख और दुःख दोनों को छोड़ कर, पहले ही सौमनस्य तथा दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से, दुःख-सुख रहित तथा स्मृति और उपेक्षा से शुद्ध चतुर्थ ध्यान को प्राप्त होकर विहार करता है। वह दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग को यथार्थ जानता है। इस ज्ञान से वह कामतृष्णा, भवतृष्णा और अविद्या-तृष्णा से विमुक्त हो जाता है। उसके लिये जन्म-मरण-चक्र क्षीण हो जाता है। वह ब्रह्म-ज्ञान पा लेता है। उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। फिर वह यहाँ लौट कर नहीं आता। (श्रामण्यफलसूत्र)

९. हे पोट्ठपाद ! 'लोक शाश्वत है', 'लोक अशाश्वत है', 'लोक शाश्वताशाश्वत है', 'लोक न शाश्वत है न अशाश्वत', 'लोक सान्त है', 'लोक अनन्त है', 'लोक सान्त और अनन्त दोनों है, 'लोक न सान्त है न अनन्त है', 'तथागत मरने के बाद भी रहते हैं', 'तथागत मरने के बाद नहीं रहते', 'तथागत मरने के बाद रहते भी हैं और नहीं भी रहते', 'तथागत मरने के बाद न तो रहते हैं और न नहीं रहते', 'जीव और शरीर एक ही हैं', 'जीव और शरीर भिन्न हैं'—इन चौदह प्रश्नों को, जिनमें प्रत्येक प्रश्न 'यही सत्य है और अन्य सब मिथ्या' इस दृष्टि से देखा जाता है, मैंने अव्याकृत (अनिर्वचनीय) बतलाया है। ये प्रश्न न तो अर्थयुक्त हैं, न धर्मयुक्त, न आदि-ब्रह्मचर्य के लिये उपयुक्त; ये न निर्वेद के लिये हैं, न विराग के लिये, न दुःख निरोध के लिये, न शान्ति के लिये, न अभिज्ञा के लिये, न परमार्थ संबोधि के लिये और न निर्वाण के लिये। इसीलिये मैंने इन्हें अव्याकृत कहा है। 'यह दुःख है', 'यह दुःख-समुदय है', 'यह दुःखनिरोध है' और 'यह दुःखनिरोध मार्ग है'—इन चार आर्यसत्यों को मैंने व्याकृत किया है। ये सार्थक हैं, धर्म के लिये उपयोगी हैं, आदि ब्रह्मचर्य के लिये उपयुक्त हैं; ये निर्वेद के लिये हैं, विराग के लिये हैं, निरोध के लिये हैं, उपशम के लिये हैं, अभिज्ञा के लिये हैं, परमार्थ-संबोधि के लिये हैं और निर्वाण के लिये हैं। इसीलिये मैंने इन्हें व्याकृत किया है।

हे पोट्ठपाद ! यदि कोई पुरुष यह कहे—'इस देश में जो सर्वाधिक सुन्दरी है, मैं उसको चाहता हूँ, उसकी कामना करता हूँ।' यदि लोग उससे पूछें—हे पुरुष जिस सर्वाधिक सुन्दरी को तू चाहता है, जिस की तू कामना करता है, क्या तू जानता है कि वह क्षत्रिया है, ब्राह्मणी है, वैश्य-स्त्री है या शूद्री है ?

क्या तू उस का नाम और गोत्र जानता है ? क्या तू जानता है कि वह लम्बी है या छोटी है या मझले क़द की है; काली है या श्यामा है या मद्गुर-वर्ण है; किस गाँव में या क़स्बे में या नगर में रहती है ? ऐसा पूछने पर वह पुरुष उत्तर दे कि वह यह कुछ नहीं जानता। तो क्या उस पुरुष का भाषण अप्रामाणिक नहीं हो जाता ? इसी प्रकार हे पोट्ठपाद ! जो श्रमण या ब्राह्मण यह कहते हैं, यह दृष्टि रखते हैं कि मरने के बाद आत्मा कष्टरहित और अत्यन्त सुखी होता है, उनसे मैं पूछता हूँ—आयुष्मान् ! क्या सचमुच आप लोग यह कहते हैं, यह दृष्टि रखते हैं कि मरने के बाद आत्मा कष्टरहित और अत्यन्त सुखी होता है ? मेरे ऐसा पूछने पर वे उत्तर देते हैं—'हाँ' । मैं फिर उनसे यह पूछता हूँ—आयुष्मान् ! क्या सचमुच आप लोग उस एकान्त सुख वाले लोक को जानते हो, देखते हो, वहाँ विहार करते हो ? ऐसा पूछने पर वे कहते हैं—'नहीं तो' । मैं फिर उनसे यह पूछता हूँ—आयुष्मान् ! क्या आप सब लोग एक रात या एक दिन उस एकान्त सुखी आत्मा को जानते हो ? ऐसा पूछने पर वे कहते हैं—'नहीं' । तो क्या तुम मानते हो पोट्ठपाद ! कि ऐसा होनेपर उन श्रमणों या ब्राह्मणों का भाषण अप्रामाणिक नहीं हो जाता ?

भिक्षुओ ! जो प्रतीत्यसमुत्पाद को जानता है, वही धर्म को जानता है; जो धर्म को जानता है, वही प्रतीत्यसमुत्पाद को जानता है । जैसे गाय से दूध, दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी और घी से माँडा होता है; जिस समय दूध होता है, उस समय न दही होता है, न मक्खन, न घी, न माँडा; दूध ही उस समय उसका नाम होता है । जिस समय दही होता है, दही ही उस समय उसका नाम होता है । इसी प्रकार हे भिक्षुओं ! अतीत जन्म के समय वही सत्य होता है, प्रत्युत्पन्न और अनागत मिथ्या होते हैं; अनागत के समय वही सत्य होता है, अतीत और प्रत्युत्पन्न मिथ्या होते हैं; प्रत्युत्पन्न के समय वही सत्य होता है, अतीत और अनागत मिथ्या होते हैं ।

भिक्षुओ ! ये सब लौकिक संज्ञायें हैं, लौकिक निरुक्तियाँ हैं, लौकिक व्यवहार हैं, लौकिक प्रज्ञप्तियाँ हैं । तथागत इनका व्यवहार करते हैं, किन्तु बिना इनमें लिप्त हुये। (पोट्ठपाद सूत्र)

१५. हे आनन्द ! आत्मा को जतलाने वाले लोग इस प्रकार उस को जताते

है—रूप आत्मा है, वेदना आत्मा है, संज्ञा आत्मा है, संस्कार आत्मा है, विज्ञान आत्मा है। किन्तु आनन्द ! ये सब धर्म अनित्य हैं, संस्कृत हैं, प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, क्षयधर्म हैं, व्ययधर्म हैं, विरागधर्म हैं, निरोधधर्म हैं । जब सभी धर्म अनित्य, सुखदुःखमय, उत्पत्ति-विनाशयुक्त हैं, जब सभी धर्मों का पूर्ण निरोध होता है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा रूप है या वेदना है या संज्ञा है या संस्कार है या विज्ञान है'। (महानिदान सूत्र)

१६. भिक्षुओं ! जब तक भिक्षु बार-बार मिल-जुल कर बैठक करने वाले रहेंगे; जब तक वे सब एक होकर साथ साथ बैठेंगे और साथ-साथ उठेंगे तथा एक होकर संघ के कर्तव्यों को करेंगे; जब तक वे अविहित का प्रज्ञापन नहीं करेंगे और विहित का उच्छेद नहीं करेंगे और विहित भिक्षु-नियमों के अनुसार चलेंगे; जब तक वे संघ के पिता, संघ के नायक, स्थविर भिक्षुओं का सत्कार करेंगे, गौरव करेंगे, मानेंगे, पूजेंगे और उनकी बातों को सुनने योग्य समझेंगे; जब तक वे पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाली तृष्णा के वश में नहीं पड़ेंगे; जब तक वे वन की कुटियों में सोने की इच्छा रक्खेंगे; जब तक प्रत्येक भिक्षु यह स्मरण रक्खेगा कि भविष्य में योग्य सब्रह्मचारी आवें और आये हुये योग्य सब्रह्मचारी सुख से विहार करें, तब तक भिक्षुओं की निश्चय ही वृद्धि समझना, हानि नहीं। भिक्षुओ ! जब तक ये सात अपरिहाणीय धर्म भिक्षुओं में रहेंगे, तब तक भिक्षुओं की निश्चय ही वृद्धि समझना, हानि नहीं।

अन्तिम समय आने पर भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—भिक्षुओ ! यदि बुद्ध, धर्म या संघ, मार्ग या प्रतिपत् के विषय में किसी भी भिक्षु को कोई भी शंका या विमति हो, तो पूछ लो, फिर पीछे पश्चात्ताप मत करना। ऐसा कहने पर वे सब भिक्षु चुप रहे । एक भी भिक्षु ऐसा नहीं था जिसे शंका या विमति होती। तब भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—भिक्षुओ ! आत्मदीप बनकर विहरो, आत्मा की ही शरण लो, अन्य की नहीं; धर्म ही तुम्हारा दीपक है, धर्म ही तुम्हारा शरण-स्थल है, अन्य की शरण मत लो। हन्त ! भिक्षुओ ! अब तुम्हें कहता हूँ—सब संस्कृत धर्म नाशमान हैं; अप्रमाद के साथ जीवन के लक्ष्य को सम्पादन करो—यह तथागत का अन्तिम वचन है ।

(महापरिनिर्वाण सूत्र)

मज्झिमनिकायो (मध्यमनिकाय)

२८. भिक्षुओ! रूप-उपादान-स्कन्ध किसे कहते हैं ? चारों महाभूतों को, पृथ्वीधातु, जलधातु, अग्निधातु और वायुधातु को, तथा इन चारों महाभूतों से उत्पन्न रूप को रूप-उपादान-स्कन्ध कहते हैं।

भिक्षुओ! जब चक्षुरिन्द्रिय ठीक काम करती हो, बाह्य पदार्थ सामने हों और इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष हो, तभी उससे उत्पन्न होने वाले चक्षुर्विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है (इसी प्रकार अन्य विज्ञानों का भी)। अतः विज्ञान प्रतीत्य-समुत्पन्न है—हेतु-प्रत्यय-जन्य है; बिना हेतु-प्रत्यय के विज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है।

आँख और रूप से उत्पन्न विज्ञान को चक्षुर्विज्ञान; कान और शब्द से उत्पन्न विज्ञान को श्रोत्र-विज्ञान; नाक और गन्ध से उत्पन्न विज्ञान को घ्राण-विज्ञान; काय और स्पर्श से उत्पन्न विज्ञान को काय-विज्ञान; जिह्वा और रस से उत्पन्न विज्ञान को जिह्वा-विज्ञान; तथा मन और धर्म (विषय) से उत्पन्न विज्ञान को मनोविज्ञान कहते हैं।

उस विज्ञान में जो रूप है, वह रूप-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है; उस विज्ञान में जो वेदना है, वह वेदना-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है; उस विज्ञान में जो संज्ञा है, वह संज्ञा-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है; उस विज्ञान में जो संस्कार हैं, वे संस्कार-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत हैं; उस विज्ञान में जो (प्रवृत्ति-) विज्ञान है, वह विज्ञान-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है।

अतः भिक्षुओ! इसे यथार्थ रूप से यों जान लेना चाहिये कि जो कुछ रूप है, जो कुछ वेदना है, जो कुछ संज्ञा है, जो कोई संस्कार हैं और जो कुछ विज्ञान है—चाहे वह भूतकाल का हो, चाहे वर्तमान का, चाहे भविष्यत् का; चाहे वह आन्तर हो, चाहे बाह्य; चाहे सूक्ष्म हो, चाहे स्थूल—वह 'न मेरा है, न वह मैं हूँ, न वह मेरा आत्मा है।'

६३. भिक्षुओ! जो कोई यह कहे कि—मैं तब तक भगवान् के पास ब्रह्मचर्य वास नहीं करूँगा, जब तक भगवान् मुझे यह नहीं बतला दें कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत, सान्त है या अनन्त, जीव और शरीर एक ही हैं या भिन्न, तथागत मरण के बाद भी विद्यमान रहते हैं या नहीं, तो भिक्षुओ! तथागत ने इन प्रश्नों

को अव्याकृत बताया है और इसलिये वह पुरुष बिना ब्रह्मचर्यवास किये ही मर जायगा। जैसे कोई पुरुष गाढ़े लेप वाले विष से युक्त शल्य से बिंध गया हो और जब उसके मित्र वैद्य को ले आवें, तब वह पुरुष यह कहे—'मैं तब तक इस शल्य को नहीं निकालने दूँगा जब तक मुझे यह पता नहीं लग जावे कि किस पुरुष ने मुझे बेंधा है, वह क्षत्रिय है या ब्राह्मण या वैश्य या शूद्र, उसका नाम और गोत्र क्या है, वह लम्बा है या नाटा या मझला', तो भिक्षुओ ! ये बातें तो अज्ञात ही रह जावेंगी और वह पुरुष मर जायगा।

६४. भिक्षुओं ! आर्यों के दर्शन से अनभिज्ञ और अस्पृष्ट साधारण पुरुष जो आर्य-धर्म को नहीं जानता, उसका चित्त सत्काय दृष्टि (पुद्गल दृष्टि अर्थात् अहङ्कार-ममकार-युक्त जीवदृष्टि) से व्याप्त रहता है। जो धर्म अव्याकृत हैं, उनका वह जानने का प्रयत्न करता है; किन्तु जो धर्म व्याकृत और जानने योग्य हैं, उनको जानने का प्रयत्न नहीं करता।

२. अनुचित रूप से विचार करने वाले उस अनभिज्ञ पुरुष के मन में इन छः दृष्टियों में कोई न कोई दृष्टि उत्पन्न होती रहती है—(१) मेरा आत्मा है, (२) मेरा आत्मा नहीं है, (३) मैं आत्मा से आत्मा को जानता हूँ, (४) मैं अनात्मा से आत्मा को जानता हूँ, (५) या वह इस दृष्टि को सच मानता है कि जो मेरा 'आत्मा' कहलाता है वही शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने वाला है, या (६) यह मेरा आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है, सदैव एक-सा रहने वाला है। भिक्षुओ ! यह सब केवल मूर्खता ही मूर्खता है। भिक्षुओ ! इसीको दृष्टियां (मतों) में गिर पड़ना, दृष्टियों की गहनता, दृष्टियों का जङ्गल, दृष्टियों का प्रलोभन, दृष्टियां का फन्दा, दृष्टियों का बन्धन कहते हैं। भिक्षुओ ! मैं कहता हूँ कि इन दृष्टियों के बन्धन में बँधा हुआ व्यक्ति जरा-मरण, शोक, रोना-पीटना, दुःख, आधि और व्याकुलता के पंजे से नहीं छूटता, वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

२२. भिक्षुओ ! जिस विद्वान् व्यक्ति ने आर्य-धर्म को सुना है, आर्य-दर्शन को देखा है, आर्य-धर्म को जाना है; वह दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोध मार्ग पर विचार करता है। उसके तीनों बन्धन—(१) सत्काय-दृष्टि, (२) विचिकित्सा और (३) शीलव्रतपरामर्श कट जाते हैं। वह स्रोतापन्न

(सद्धर्म के अनुशीलन से मोक्ष-प्रवाह में पड़ने वाला) हो जाता है; उसका पतन असम्भव है; उसकी बोधि-प्राप्ति निश्चित है।

भिक्षुओ! तथागत सब दृष्टियों के ऊपर उठ गये हैं। तथागत सभी मान्यताओं के, सभी अस्तित्वों के, सभी अहङ्कारों के, सभी ममकारों के, सभी अभिमानों के नाश से, क्षय से, विराग से, निरोध से, त्याग से, छूटने से, उपादान न रहने से विमुक्त हो गये हैं।

२६. भिक्षुओ! कान लगा कर सुनो। अमृत पद प्राप्त हो गया है। मैं अनुशासन करता हूँ। मैं धर्मोपदेश देता हूँ।

संयुत्तनिकायो (संयुक्तनिकाय)

२१, २. सभी संकार अनित्य हैं; सभी संस्कार दुःखरूप हैं; सभी संस्कार अनात्म (स्वतन्त्र सत्तारहित) हैं; जो अनित्य है, वह दुःखरूप है; जो दुःखरूप है, वह अनात्म है; जो अनात्म है, वह मेरा नहीं है मैं वह नहीं हूँ, वह मेरा आत्मा नहीं है।

१४, १. भिक्षुओ! संसार अनादि है, इसके 'अग्र' या 'आदि' का पता नहीं है, इसकी 'पूर्वा कोटि' का ज्ञान नहीं होता। इसकी 'अपरा कोटि' अर्थात् 'अन्त' का भी ज्ञान नहीं होता। (आदि-अन्त रहित होने से संसार 'मध्य' में अर्थात् वर्तमान में भी प्रतीति मात्र है)

१४, २. भिक्षुओ! क्या तुम जानते हो कि इस संसार के सुदीर्घ मार्ग में दौड़ने वाले, इस जन्म-मरण-चक्र में पिसने वाले प्राणियों ने बार-बार जन्म लेकर प्रिय-वियोग और अप्रिय-संयोग के कारण विलाप करके रो-रोकर जो आँसू बहाये हैं, वे अधिक हैं या इन चारों महासमुद्रों का जल?

भिक्षुओ! क्या तुम जानते हो कि इस संसार के सुदीर्घ मार्ग में दौड़ने वाले, इस जन्म-मरण-चक्र में पिसने वाले, बार-बार जन्म लेकर सीस कटाने वाले प्राणियों का जो रक्त बहा है, वह अधिक है या इन चारों महासमुद्रों का जल?

१६, १०. भिक्षुओ! रूप नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अपरिवर्तनशील नहीं है—यह बात इस लोक में पण्डितों को मान्य है। मैं भी यही कहता हूँ। वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान भी नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अपरिवर्तनशील नहीं हैं—यह बात इस लोक में पण्डितों को मान्य है। मैं भी यही कहता हूँ।

भिक्षुओ ! मैं लोक से विवाद नहीं करता; लोक ही मुझसे विवाद करता है। भिक्षुओ ! धर्म को ठीक समझने वाला इस लोक में किसी से नहीं झगड़ता। भिक्षुओ ! पण्डित लोग जिसे मानते हैं, मैं भी उसे मानता हूँ; पण्डित लोग जिसे नहीं मानते, मैं भी उसे नहीं मानता।

अङ्गुत्तरनिकायो (अङ्गोत्तरनिकाय)

३, ३२ यही शान्ति है; यही सर्वोत्तम है, यह जो सभी संस्कारों का शमन है, सभी उपाधियों का त्याग है, सारी तृष्णा का क्षय है, विराग है, निरोध है; यही निर्वाण है।

२, ३३. जो लोग कहते हैं कि 'श्रमण गौतम उच्छेदवादी हैं', यदि उनका तात्पर्य यह है कि मैं अविद्या के उच्छेद की शिक्षा देता हूँ, तो ठीक है। भिक्षुओ ! मैं राग, द्वेष, मोह तथा अनेक प्रकार के पाप कर्मों के, अकुशल धर्मों के उच्छेद की शिक्षा देता हूँ।

७, ९. शास्ता को शिष्यों के हित के लिये जो कुछ करना चाहिये वह मैंने कर दिया। भिक्षुओ ! ये शीतल छाया वाले वृक्ष हैं; ये एकान्त कुटियाँ हैं; भिक्षुओ ! ध्यान लगाओ, प्रमाद मत करो; देखना, पीछे मत पछताना। यही हमारा उपदेश है।

खुद्दकनिकायो (क्षुद्रकनिकाय)

(१) खुद्दकपाठो

६. पुराने कर्म क्षीण हो चुके; नये कर्म उत्पन्न नहीं होते; विरक्तचित्त जीवन्मुक्त इस प्रदीप के समान निर्वाण प्राप्त करते हैं।

९. सभी प्राणी सुखी हों; सबका कल्याण हो; सबको उत्तरोत्तर आनन्द मिले।

(२) धम्मपद

१. सब सांसारिक पदार्थ विज्ञान की अपेक्षा रखते हैं—सब विषय विषयी की ओर संकेत करते हैं; विज्ञान ही सब धर्मों में श्रेष्ठ है; सब धर्म विज्ञान के परिणाम हैं। जो व्यक्ति अति दुष्ट मन से जानता है या कर्म करता है, उसके पीछे-पीछे दुःख उसी प्रकार चला करता है जैसे गाड़ी खींचने वाले पशु के पैर के पीछे-पीछे गाड़ी का पहिया।

१२८. न अन्तरिक्ष में, न समुद्र के बीच में, न पर्वत की कन्दराओं में, कहीं भी ऐसा सुरक्षित स्थान नहीं है जहां मृत्यु न धर दबावे।

६०. जागने वाले के लिये रात लम्बी हो जाती है; थके हुये व्यक्ति को एक योजन भी बहुत दूर प्रतीत होता है, सद्धर्म को न जानने वाले मूर्खों के लिये यह संसार अत्यन्त दीर्घ बन जाता है।

८१. जैसे एकघन पर्वत वायु से विचलित नहीं होता, वैसे ही एकरस पण्डित निन्दा या प्रशंसा से विचलित नहीं होते।

१४६. जब घर चारों ओर से प्रतिक्षण जल रहा हो, तो उसके निवासियों के लिये क्या हँसी और क्या आनन्द! लोग घने अन्धकार से घिरे हुये हैं; आश्चर्य है कि वे दीपक नहीं खोजते!

१५४. इस संसार रूपी घर का निर्माण करने वाले अविद्याजन्य अहङ्कार! मैंने तुझे अच्छी तरह पहचान लिया है; अब तू मेरे लिये इस घर का फिर निर्माण नहीं कर सकता क्योंकि घर बनाने के तेरे सारे सामान, डण्डे, सींखचे आदि, भग्न हो गये हैं और इस घर की दीवारें भी टूट चुकी हैं। यह चित्त संस्कारों से रहित होकर तृष्णाक्षय को प्राप्त हो चुका है।

१६०. आत्मा ही आत्मा का स्वामी है; इसका स्वामी अन्य कौन हो सकता है?

१८३. सारे पाप-कर्मों से निवृत्ति और सारे कुशल-कर्मों में प्रवृत्ति तथा चित्त-नैर्मल्य—यह बुद्धों का उपदेश है।

१९१-१९२. दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध, और दुःखनिरोधगामी आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग जो उत्तम और कल्याणकारी शरण-स्थल है।

२०३. इसको यथार्थ जान लेने पर परमानन्दरूप निर्वाण प्राप्त होता है।

२०५ प्रविवेक-रस को और उपशम-रस को पीकर—धर्मप्रीति-रस को पीकर—भिक्षु निर्भय और निष्पाप हो जाता है।

२१५, तृष्णा से ही शोक और भय होते हैं; तृष्णा-मुक्त के लिये कैसा शोक और कैसा भय!

२४३. अविद्या रूपी परम मल सब मलों से बढ़ कर है। भिक्षुओ! इस मल को धोकर विमल हो जाओ!

२५१. राग के बराबर आग नहीं है; दोष के बराबर ग्रह नहीं है; मोह के बराबर जाल नहीं है; तृष्णा के बराबर नदी नहीं है।

२५५. आकाश में पदचिह्न नहीं होते; श्रमण बाहर नहीं होता; संस्कार नित्य नहीं होते; बुद्धों को क्षय नहीं होता।

२५४. जनता प्रपञ्च में लिप्त है; तथागत सारे प्रपञ्च से परे हैं।

३१३. असावधानी से पकड़ने पर कुश हाथ को ही काट देता है; श्रामण्य को ठीक-ठीक न समझने पर वह नरक में ले जाता है।

३१७. साधारण जन मिथ्यादृष्टि के वशीभूत होकर (निर्वाण रूपी) अभय-स्थल को भयानक समझते हैं और इस भयानक (संसार) को अभय मानते हैं। वे लोग दुर्गति प्राप्त करते हैं।

३८५. निर्वाण का न पार है, न अपार, न पारावार।

३८८. पापों से छूट जाने पर 'ब्राह्मण', सम्यक् चर्या से 'श्रमण' और आत्म-मल के निवारण से 'प्रव्रजित' कहा जाता है।

(३) उदान

१०. जहाँ जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु की पहुँच नहीं है; जहाँ तारे नहीं चमकते; जहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता; जहाँ चन्द्रमा की ज्योति नहीं पहुँचती; जहाँ कोई अन्धकार नहीं है—जो इस स्थल का स्वयं साक्षात् करता है, वही मुनि है, वही ब्राह्मण है, वही रूप, अरूप और सुख, दुःख के पार चला जाता है।

१२. इस लोक में जो काम-सुख है अथवा परलोक में जो दिव्य सुख है, ये दोनों सुख, तृष्णा-क्षयरूपी सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं।

२६. जिसके लिये न माया है, न मान; जिसका लोभ क्षीण हो गया है; जो निर्मम और तृष्णा-रहित है; जिसने क्रोध को निकाल दिया है, वही अभिनिर्वृत है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।

३०. सब प्रकार की तृष्णाओं के अशेष क्षय और निरोध को निर्वाण कहते हैं; जिस भिक्षु ने निर्वाण पा लिया है उसका, उपादानरहित होने से, पुनर्जन्म नहीं होता।

७१. भिक्षुओ! न आना है, न जाना है, न रहना है, न गिरना है, न होना है। स्थिति, विनाश और उत्पाद से रहित होना ही दुःख का अन्त है।

७३. भिक्षुओ! क्योंकि अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत (निर्वाण) है, इसीलिये जात, भूत, कृत और संस्कृत (संसार) से छुटकारा सम्भव है।

(४) इतिवुत्तक

११२. तर्क की सब दृष्टियों के पार जाने वाला, सारी ग्रन्थियों से छूट जाने वाला तथा अकुतोभय निर्वाण का स्पर्श करने वाला ही परम शान्ति पाता है; इन अद्वितीय सिंह, भगवान् बुद्ध ने देव-मनुष्य सहित लोक में ब्रह्मचक्र का प्रवर्तन किया।

(५) सुत्तनिपात

१, १३. जो न इधर लिप्त है, न उधर; जिसने वीतमोह होकर इस सारे जगत् को मिथ्या जान लिया है, वही भिक्षु आवागमन को वैसे ही छोड़ देता है, जैसे साँप पुरानी केंचुल को छोड़ देता है।

३, १६. काम-सुखों में क्लेश देख कर भिक्षु को, गेंड़े के एक सींग की तरह, अकेला ही विचरना चाहिये।

७, २७. न कोई जाति से शूद्र होता है और न ब्राह्मण; कर्मों से शूद्र होता है और कर्मों से ब्राह्मण।

११, १२. काम और तृष्णा से विरक्त होकर जो भिक्षु सम्बोधि प्राप्त कर लेता है, वही अमृत, शान्त और अच्युत निर्वाणपद पाता है।

३२, ३८. जैसे सुन्दर कमल जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही तुम पुण्य और पाप दोनों से निर्लिप्त हो।

३५, ४३. जो पुण्य और पाप—इन दोनों द्वन्द्वों से विमुक्त हो गया है, जो अशोक, विमल और शुद्ध है, उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

५०, ९. तर्क द्वारा विविध दृष्टियों की (मत-मतान्तरों की) कल्पना करके सत्य और मृषा, इन दोनों धर्मों का व्यवहार होता है। (विशुद्ध सम्बोधि में तर्क की दृष्टियों का अतिक्रमण हो जाता है)

६५, ३. जरामृत्यु का परिक्षय निर्वाण कहलाता है।

अभिधर्मपिटक

कथावत्थु

स्थविरवादी—क्या सचमुच पुद्गल (जीवात्मा) परमार्थ रूपसे उपलब्ध होता है?

पुद्गलवादी—हाँ।

स्थ०—जैसे स्कन्ध सत्य और यथार्थ रूपमें उपलब्ध होते हैं, क्या पुद्गल भी उसी तरह सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध होता है ?

पु०—यह तो नहीं कहा जा सकता।

स्थ०—तो अपनी पराजय स्वीकार करो—

(१) यदि पुद्गल सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध होता है, तो आपको यह भी कहना चाहिये कि जैसे स्कन्ध सत्य और यथार्थ रूप में उपलब्ध होते हैं, वैसे ही पुद्गल भी सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध होता है।

(२) आप यह तो कहते हैं कि 'पुद्गल सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध होता है', किन्तु यह नहीं कहते कि 'जैसे स्कन्ध सत्य और यथार्थ रूप में उपलब्ध होते हैं, उसी तरह पुद्गल भी सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध होता है', इसलिये आपका कथन मिथ्या है।

(३) यदि आप यह नहीं कह सकते कि 'जैसे स्कन्ध सत्य और यथार्थ रूप में उपलब्ध होते हैं, उसी तरह पुद्गल भी सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध होता है', तो आपको यह भी नहीं कहना चाहिये कि 'पुद्गल सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध होता है।'

(४) आप यह तो कहते हैं कि 'पुद्गल सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध होता है।'

(५) किन्तु यह नहीं कहते कि 'जैसे स्कन्ध सत्य और यथार्थ रूप में उपलब्ध होते हैं, उसी तरह पुद्गल भी सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध होता है।'

अतः आपका कथन मिथ्या है।

तब पुद्गलवादी इसको उलटता है—

पु०—क्या सचमुच पुद्गल परमार्थ रूप में उपलब्ध नहीं होता ?

स्थ०—हाँ, नहीं होता।

पु०—जैसे स्कन्ध सत्य और यथार्थ रूप में उपलब्ध होते हैं, क्या वैसे पुद्गल सचमुच और परमार्थ रूप में उपलब्ध नहीं होता ?

स्थ०—यह तो नहीं कहा जा सकता।

पु०—तो अपनी पराजय स्वीकार करो—

(१) यदि पुद्गल सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध नहीं होता, तो आपको यह भी कहना चाहिये कि जैसे स्कन्ध सत्य और यथार्थ रूप में उपलब्ध होते हैं, वैसे पुद्गल सचमुच और परमार्थ रूप में उपलब्ध नहीं होता।

(२) आप यह तो कहते हैं कि 'पुद्गल सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध नहीं होता', किन्तु यह नहीं कहते कि 'जैसे स्कन्ध सत्य और यथार्थ रूप में उपलब्ध होते हैं, वैसे पुद्गल सचमुच और परमार्थ रूप में उपलब्ध नहीं होता', इसलिये आपका कथन मिथ्या है।

(३) यदि आप यह नहीं कह सकते कि 'जैसे स्कन्ध सत्य और यथार्थ रूप में उपलब्ध होते हैं, वैसे पुद्‌गल सचमुच और परमार्थ रूप में उपलब्ध नहीं होता', तो आपको यह भी नहीं कहना चाहिये कि 'पुद्‌गल सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध नहीं होता।'

(४) आप यह तो कहते हैं कि 'पुद्गल सचमुच परमार्थ रूप में उपलब्ध नहीं होता', किन्तु यह नहीं कहते कि 'जैसे स्कन्ध सत्य और यथार्थ रूप में उपलब्ध होते हैं, वैसे पुद्‌गल सचमुच और परमार्थ रूप में उपलब्ध नहीं होता।'

अतः आपका कथन मिथ्या है!

पुनर्जन्म के विषय में प्रश्न

स्थ०—क्या पुद्‌गल इस लोक से परलोक में और परलोक से इस लोक में संसरण करता है?

पु०—हाँ।

स्थ०—क्या वही पुद्गल संसरण करता है?

पु०—यह तो नहीं कहना चाहिये।

स्थ०—क्या अन्य पुद्गल संसरण करता है?

पु०—यह भी नहीं कहना चाहिये।

स्थ०—क्या अंशतः वही और अंशतः अन्य पुद्‌गल संसरण करता है?

पु०—यह भी नहीं कहना चाहिये।

स्थ०—क्या न तो वही और न अन्य पुद्गल संसरण करता है?

पु०—यह भी नहीं कहना चाहिये।

स्थ०—तो अपनी पराजय स्वीकार करो।

तब पुद्गलवादी इसको उलटता है—

पु०—क्या पुद्गल इस लोक से परलोक में और परलोक से इस लोक में संसरण नहीं करता ?

स्थ०—हाँ, नहीं करता।

पु०—भगवान् ने कहा है कि—'स्रोतापन्न पुद्गल अधिक से अधिक सात बार जन्म ले सकता है; जो स्रोतापन्न हो चुका है, उसके दसों संयोजन (सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामर्श, कामराग, व्यापाद, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या) क्षीण होकर ही रहेंगे, उसके लिये दुःख का अन्त होना निश्चित है।'

स्थ०—हाँ, कहा तो है।

पु०—तो इससे सिद्ध होता है कि पुद्गल संसरण करता है।

फिर स्थविरवादी उत्तर देता है—

स्थ०—यदि वही पुद्गल, अन्य नहीं, इस लोक से परलोक में संसरण करता है, तो फिर मृत्यु या प्राणातिपात असंभव है। क्या कर्म को मानते हो ? कर्मविपाक का मानते हो ? किये हुये कर्मों के फलों को मानते हो ?

पु०—हाँ, मानते हैं।

स्थ०—तो फिर कुशल और अकुशल कर्मों को मानने पर यह कहना कि वही पुद्गल संसरण करता हैं, मिथ्या है। क्या अब भी मानते हो कि वही पुद्गल संसरण करता है ?

पु०—हाँ।

स्थ०—वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान से युक्त पुद्गल संसरण करता है ?

पु०—हाँ।

स्थ०—क्या जीव और शरीर एक ही हैं ?

पु०—यह नहीं कहा जा सकता।

स्थ०—तो फिर अपनी पराजय स्वीकार करो—

यदि स्कन्धों के नष्ट होने पर पुद्गल भी नष्ट हो जावे, तो यह उच्छेदवाद की दृष्टि है जिसे भगवान् ने मना किया है; और यदि स्कन्धों के नष्ट होने पर भी पुद्गल नष्ट न हो, तो पुद्गल शाश्वत हो जायगा और शाश्वत होने पर उसे निर्वाण के समान मानना पड़ेगा।

बुद्धघोष

अट्ठकथा (अर्थकथा)

संवृति सत्य और परमार्थ सत्य—ये दो सत्य हैं। जो लोग इसे न मानकर सत्य सामान्य को मानते हैं और संवृति ज्ञान को भी परमार्थ ज्ञान कहते हैं, वे परमार्थ को नहीं जानते।

यह दुःख रूप संसार प्रतीत्यसमुत्पन्न है, अनित्य है, चल है, परिवर्तनशील है, अध्रुव है। धर्मों की कार्य-कारण-श्रृंखला चलती रहती है। यहाँ न आत्मा है, न अन्य है। हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा रख कर धर्म अन्य धर्मों को उत्पन्न करते रहते हैं। इन धर्मों के निरोध के लिये भगवान् बुद्ध ने धर्मोपदेश दिया है। कारण का निरोध हो जाने पर कार्यरूप संसार भग्न हो जाता है। फिर यह मार्ग नहीं रहता। इस प्रकार दुःख का अन्त करने के लिये ब्रह्मचर्यवास किया जाता है। जब कोई सत्व ही उपलब्ध नहीं होते, तो उच्छेद और शाश्वत की कल्पना व्यर्थ है।

मिलिन्द-पञ्हो (मिलिन्द-प्रश्न)

१, ४० यवनों के राजा मिलिन्द ने कहा—अरे, यह जम्बूद्वीप तुच्छ है; बिलकुल व्यर्थ है। यहाँ कोई श्रमण या ब्राह्मण ऐसा नहीं है जो मुझसे शास्त्रार्थ करके मेरी शंकाओं को दूर कर सके।

१, ४४ महाराज! नागसेन नामक स्थविर बड़े भारी पण्डित और मेधावी हैं। वे आप के साथ शास्त्रार्थ करके आप की शंकाओं को दूर कर सकते हैं।

२, १-२. तब मिलिन्द ने आयुष्मान् नागसेन के पास जाकर पूछा—भन्ते! आपका शुभ नाम क्या है?

महाराज! सब्रह्मचारी मुझे 'नागसेन' के नाम से पुकारते हैं; वास्तव में इस नाम का कोई पुद्गल (जीवात्मा) नहीं है।

भन्ते नागसेन! यदि नागसेन नामक कोई पुद्गल नहीं है, तो शील की रक्षा कौन करता है? ध्यान-भावना का अभ्यास कौन करता है? आर्य मार्ग के फल रूप निर्वाण का साक्षात्कार कौन करता है? फिर तो कुशल और अकुशल कर्म भी नहीं होने चाहियें। भन्ते! तब तो आपके कोई आचार्य भी नहीं हैं;

कोई उपाध्याय भी नहीं हैं; फिर तो आपकी उपसम्पदा भी नहीं हुई। तो फिर 'नागसेन' कौन है ? भन्ते ! क्या ये केश नागसेन हैं ?

नहीं महाराज !

क्या ये रोयें नागसेन हैं ?

नहीं महाराज !

क्या ये नख, दाँत, चमड़ा, माँस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, रक्त, मेद, चर्बी नागसेन हैं ?

नहीं महाराज !

क्या रूप या वेदना या संज्ञा या संस्कार या विज्ञान नागसेन है ?

नहीं महाराज !

क्या रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान सब मिल कर नामसेन हैं ?

नहीं महाराज !

क्या रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान से भिन्न कोई नागसेन है ?

नहीं महाराज !

भन्ते ! तब मैं पूछता-पूछता थक गया, किन्तु नागसेन का पता नहीं चला।

२, ३. तब आयुष्मान् नागसेन ने राजा मिलिन्द से पूछा—

महाराज ! क्या आप यहाँ पैदल आये हैं या किसी सवारी पर ?

भन्ते ! मैं रथ पर आया हूँ।

महाराज ! यदि आप रथ पर आये हैं, तो मुझे बतायें कि—

आपका 'रथ' कौन सा है ? क्या रथ-दंड रथ है ?

नहीं भन्ते !

क्या अक्ष रथ है ?

नहीं भन्ते !

क्या पहिये रथ हैं ?

नहीं भन्ते !

क्या रथ का ढाँचा रथ है ?

नहीं भन्ते !

क्या युग रथ हैं ?

नहीं भन्ते !

क्या रस्सियाँ रथ हैं ?

नहीं भन्ते !

क्या दंड-अक्ष-चक्र-रथपञ्जर- युग-रश्मि सब मिलाकर रथ हैं ?

नहीं भन्ते !

क्या इन सब से भिन्न कोई रथ है ?

नहीं भन्ते !

महाराज ! मैं पूछते-पूछते थक गया, किन्तु 'रथ' का पता नहीं लगा।

महाराज ! आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है।

२, ४. भन्ते नागसेन ! मैं झूठ नहीं बोलता। रथदंड, अक्ष, चक्र, पञ्जर आदि अवयवों की अपेक्षा रख कर 'रथ' यह नाम, संज्ञा, प्रज्ञप्ति, व्यवहार किया जाता है।

महाराज ! बहुत ठीक, अब आपने जान लिया कि रथ क्या है। महाराज ! इसी प्रकार मेरे केश, लोम, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान की अपेक्षा रख कर 'नागसेन' यह नाम, संज्ञा, प्रज्ञप्ति, व्यवहार किया जाता है। वास्तव में कोई नागसेन नामक पुद्गल नहीं है।

२, १२. राजा बोला—भन्ते नागसेन ! आपकी प्रव्रज्या किसलिये हुई है ? आपका परमार्थ क्या है ?

स्थविर ने उत्तर दिया—महाराज ! यह दुःख रुक जाय और नया दुःख उत्पन्न न हो इसलिये हमारी प्रव्रज्या हुई है। उपादानों के क्षय से होने वाला निर्वाण ही हमारा परमार्थ है।

२, १३. भन्ते ! क्या कोई ऐसा भी है जो मरने के बाद जन्म नहीं लेता ? महाराज ! जिनमें क्लेश (अविद्या-मल) लगा रहता है, वे जन्म लेते हैं और जो क्लेशरहित हो गये हैं, वे जन्म नहीं लेते।

२, १५. भन्ते ! 'बुद्धि' का क्या लक्षण है और 'प्रज्ञा' का क्या लक्षण है ? महाराज ! ऊहापोह की पकड़ बुद्धि का लक्षण है और अविद्या-कृन्तन प्रज्ञा का। जैसे जौ काटने वाले बायें हाथ से जौ की बालों को पकड़ कर और दाहिने हाथ से हँसिया पकड़कर काटते हैं, वैसे ही योगी बुद्धि से मन को पकड़ कर प्रज्ञा से क्लेशों को काट देता है।

२, २३. और महाराज ! स्वप्रकाशता भी प्रज्ञा का लक्षण है। प्रज्ञा होते ही अविद्यारूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है और विद्यारूपी प्रकाश फैल जाता है।

तब चारों आर्यसत्य स्पष्ट दिखाई देते हैं। तब योगी अनित्य को, दुःख को और अनात्म को भलीभाँति देख लेता है।

२, २२. महाराज! यह प्रज्ञा समाधि लगने पर प्राप्त होती है। जितने भी पुण्य धर्म हैं सब समाधि की ओर खिंचते हैं। भगवान् ने कहा है—भिक्षुओ! समाधि की भावना करो; समाधि लगने पर ही सच्ची प्रज्ञा प्राप्त होती है।

२, २५. भन्ते! जो उत्पन्न होता है वह वही रहता है या बदल जाता है?

महाराज! न वही रहता है, न बदलता है। जैसे मैं ही उत्पन्न हुआ, बच्चा हुआ, खाट पर चित्त लेटा, वयस्क हुआ, युवा हुआ और अब इतना बड़ा हुआ, किन्तु ये सब विभिन्न अवस्थायें इस शरीर पर ही घटने से एक ही मान ली जाती हैं। जैसे कोई व्यक्ति दीपक जलावे, तो क्या वही दीपक रात भर जलता रहेगा? रात के पहले पहर में जो दीपक की लौ थी क्या वही दूसरे पहर में भी रहेगी? और जो लौ दूसरे पहर में थी क्या वही तीसरे पहर में भी बनी रहेगी?

नहीं भन्ते!

महाराज! क्या वह दीपक पहले पहर में और, दूसरे पहर में और, तथा तीसरे पहर में और हो जाता है?

नहीं भन्ते!

महाराज! ठीक इसी तरह वस्तु के अस्तित्व का प्रवाह चलता रहता है—कार्य-शृंखला के उत्पन्न होने पर कारण-शृंखला निरुद्ध हो जाती है। एक अवस्था उत्पन्न होती है, दूसरी लय होती है—इस प्रकार यह सन्तान चलता रहता है। अतः जीव न वही रहता है और न अन्य हो जाता है। या जैसे दूध से दही, दही से मक्खन और मक्खन से घी होता है।

२, २९. महाराज! अर्हत् को न कोई इच्छा रहती है, न अनिच्छा, अर्हत् कच्चे तो तुरन्त पकाना नहीं चाहता, वह पकने की राह देखता है। धर्म-सेनापति सारिपुत्र ने कहा है—'न मुझे मरने की चाह है और न जीने की। मैं ज्ञान-पूर्वक सावधानी से अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।'

महाराज! नाम-रूप जन्म लेता है। यही नाम-रूप जन्म नहीं लेता, किन्तु इस नाम-रूप द्वारा कृत कर्मों के कारण अन्य नाम-रूप उत्पन्न होता है। जैसे कोई किसी के आम चुरा ले और पूछने पर कहे कि 'मैंने इसके आम नहीं चुराये। जो इसने आम लगाये थे वे और थे और जो मैंने आम लिये हैं ये और ही हैं।'

फिर भी वह पुरुष चोरी का दण्ड पाने के योग्य है। इसी प्रकार मनुष्य इस नाम-रूप से शुभाशुभ कर्म करता है और उन कर्मों से अन्य नाम-रूप जन्म लेता है, फिर भी वह पुरुष अपने कर्मों से मुक्त नहीं होता।

२, ३३, ३६. महाराज! स्थूल पदार्थ 'रूप' हैं और सूक्ष्म मानसिक धर्म 'नाम' हैं। दोनों अन्योन्याश्रित हैं—जैसे मुर्गी से अण्डा और अण्डे से मुर्गी अथवा जैसे बीज से अङ्कुर और अङ्कुर से बीज होता है, वैसे ही नाम से रूप और रूप से नाम की सत्ता है।

२, ३५. महाराज! भूत, भविष्यत् और वर्तमान मार्ग का मूल कारण अविद्या है। इस अविद्या के आदि का पता नहीं लगता।

४, ६३. भन्ते नागसेन! क्या निर्वाण आत्यन्तिक सुख है, अथवा दुःख से मिश्रित है?

४, ६७. महाराज! निर्वाण आत्यन्तिक सुख है, वह दुःख से सर्वथा अमिश्रित है। जैसे विद्यमान महासमुद्र के जल का परिमाण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार निर्वाण के विद्यमान होने पर भी उसका रूप, स्थान, अवस्था या परिमाण किसी प्रकार नहीं समझाये जा सकते—न उपमा द्वारा, न कारण द्वारा, न हेतु द्वारा, और न तर्क द्वारा।

४, ६९. यद्यपि स्वरूपतः निर्वाण का वर्णन नहीं हो सकता, तथापि गुणतः उसका वर्णन किया जाता है; यद्यपि परमार्थतः निर्वाण अनिर्वचनीय है, तथापि व्यवहार दशा में उसका उपदेश दिया जाता है।

४, ७१. महाराज! जिस प्रकार कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार निर्वाण समस्त क्लेशों से अलिप्त है।

४, ७२. महाराज! जैसे शीतल पानी गर्मी दूर करता है और प्यास बुझाता है, वैसे ही निर्वाण भी शीतल होने के कारण समस्त सांसारिक क्लेशों की गर्मी दूर करता है और कामतृष्णा, भवतृष्णा तथा विभवतृष्णा की प्यास बुझाता है।

४, ७४. महाराज! निर्वाण, महासमुद्र के समान, महान् और अपरम्पार है; और जैसे महासमुद्र में बड़े-बड़े जीव रहते हैं, वैसे ही निर्वाण में बड़े-बड़े क्षीणास्रव, विशुद्ध अर्हत् रहते हैं।

४, ८०. महाराज! गिरिशिखर के समान निर्वाण अत्युन्नत, अचल और कठिनता से चढ़ने योग्य है।

४, ८२–८३. महाराज! निर्वाण न अतीत है, न अनागत, न प्रत्युत्पन्न; न उत्पन्न, न अनुत्पन्न और न उत्पादनीय। यह निर्वाणधातु परमा शान्ति है, परमानन्द है, अत्युत्तम है, अद्वितीय है। महाराज! विरला ही, सद्धर्म-मार्ग पर चल कर भगवान् बुद्ध के उपदेशानुसार संसार के समस्त संस्कारों को अनित्य, दुःख और अनात्म देखते हुये, विमल प्रज्ञा से निर्वाण का साक्षात्कार कर पाता है। विघ्नरहित होने से, उपद्रवरहित होने से, भयरहित होने से, कुशल होने से, शान्त होने से, सुखी होने से, प्रसन्न होने से, अद्वितीय होने से, विशुद्ध होने से, शीतल होने से निर्वाण का दर्शन हो सकता है।

द्वितीय परिच्छेद

महायानवैपुल्यसूत्र

(१)

ललितविस्तरसूत्र

ज्ञान-समुद्र, शुद्ध महात्मा, धर्मेश्वर, सर्वज्ञ, मुनि-श्रेष्ठ, प्रशान्त-शरीर, देवों और मानवों के पूज्य शाक्य-सिंह भगवान् बुद्ध के चरणों का आलिंगन करो।

ज्ञान के प्रकाश से पूर्ण, अतुलनीय धर्म के उपदेशक, अविद्या के अन्धकार को नष्ट करने वाले, सत्य दृष्टि के ज्ञाता, शान्त-मूर्ति, अपरिमित बुद्धि वाले भगवान् बुद्ध की शरण में समस्त प्राणी भक्तिपूर्वक चलो।

वे अमृत-औषध देकर भव-रोग को हरने वाले वैद्यराज हैं। वे कुतार्किकों को परास्त करने वाले तार्किक-शिरोमणि हैं। वे परमार्थ को जानने वाले धर्म-बन्धु हैं। वे उत्कृष्ट मार्ग-दर्शक लोक-नायक हैं।

वे सद्धर्म का उपदेश देते हैं। वे आदि, मध्य और अन्त तीनों अवस्थाओं में कल्याणकारी, सुन्दर शब्दों और अर्थों से युक्त, पूर्ण, शुद्ध, शुभ्र उपदेश से मोक्ष-मार्ग को प्रकाशित करते हैं।

तथागत यह घोषित करते हैं—हे आनन्द! श्रद्धा उत्पन्न करो। जो मुझमें श्रद्धा रखते हैं उनको मैं अपनाता हूँ; मित्रों के समान वे मेरे शरणागत हैं।

मैं देवताओं का भी देवता हूँ। मैं समस्त देवों में उत्तम हूँ। कोई देवता मेरे समान नहीं है; मुझसे बढ़कर होने की तो बात ही क्या।

तीनों लोक जरा, व्याधि और आधि से जल रहे हैं; मृत्युरूपी अग्नि से प्रदीप्त हैं, अनाथ और असहाय हैं। संसार में आयु, पहाड़ में बरसाती नदी के समान और आकाश में बिजली के समान, वेग से प्रकट होकर शीघ्र नष्ट हो जाती है।

आर्यजन संसार के कामसुखों को भयंकर, स्वप्नवत्, सदा वैर कराने वाले, अनेक प्रकार के शोक और उपद्रवों को उत्पन्न करने वाले, तलवार की धार के समान तीक्ष्ण, विषैले तीर की तरह चुभने वाले, क्षणिक और मिथ्या बतलाते हैं।

उस यौवन को धिक्कार है जिसके पीछे बुढ़ापा लगा हुआ है। उस आरोग्यता को धिक्कार है जिसके भीतर विविध रोग छिपे बैठे हैं! उस जीवन को धिक्कार है जो इतना क्षणिक है! उस पण्डित को धिक्कार है जो काम-सुखों के पीछे दौड़ रहा है!

तथागत बोधि का साक्षात्कार करके अजर और अमर पद पाकर सद्धर्म की वृष्टि से भवताप-तप्त लोगों को शान्ति देंगे। वे स्वयं इस अनादि और अनन्त भव-सागर को पार करके लोगों को भी अजर, अमर और कल्याणमय स्थल में ले जावेंगे। वे लोगों को संसार-सागर के पार उतार कर अद्वितीय, कल्याणमय, भयरहित, शोकरहित, उपद्रवरहित, मल-रहित, शिव और अमृतमय धर्मधातु में प्रतिष्ठित करेंगे।

भगवान् बोधिवृक्ष के नीचे प्रथम बार अभिसम्बुद्ध हुये। उन्हें प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र का साक्षात्कार हुआ। अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति और जाति से जरामरण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इस महान् दुःखस्कन्ध का समुदय होता है। अविद्या के मिटने पर संस्कार, संस्कार के मिटने पर विज्ञान, विज्ञान के मिटने पर नामरूप, नामरूप के मिटने पर षडायतन, षडायतन के मिटने पर स्पर्श, स्पर्श के मिटने पर वेदना, वेदना के मिटने पर तृष्णा, तृष्णा के मिटने पर उपादान, उपादान के मिटने पर भव, भव के मिटने पर जाति और जाति के मिटने पर जरामरण मिट जाते हैं। इस प्रकार इस महान् दुःखस्कन्ध का निरोध होता है। इस दुःखस्कन्ध के निरोध करने का मार्ग भी तथागत ने जाना है; वह आर्य अष्टांगिक मार्ग यह है—सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि। चार आर्य सत्य ये ही हैं—दुःख, दुःख-समुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोध मार्ग।

तथागत ने इस गंभीर, प्रशान्त, सूक्ष्म, निपुण, कठिनाई से ज्ञात होनेवाले,

तर्कातीत, रागद्वेषरहित, पण्डितों द्वारा लभ्य, दुर्दृश्य, सम्पूर्ण संस्कारों का शमन करने वाले, परमार्थ और अनिर्वचनीय निर्वाण का सात्क्षात्कार किया।

(२)

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र

प्रज्ञापारमिता आकाश के समान निर्लेप, प्रपञ्चशून्य और अनिर्वचनीय है। जो प्रज्ञापारमिता को पाता है वह तथागत को पा लेता है।

प्रज्ञापारमिता का साक्षात्कार होने पर तार्किकों के वाद और तर्क विलीन हो जाते हैं। प्रज्ञापारमिता के अतिरिक्त मोक्ष का अन्य कोई मार्ग नहीं है, यह निश्चित है।

वास्तव में पारमार्थिक दृष्टि से प्रज्ञापारमिता अनिर्वचनीय है; फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से लोगों को बोध कराने के लिये भगवान् कृपा करके प्रज्ञापारमिता का उपदेश देते हैं।

बोधिसत्त्व, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूपी पांचों स्कन्धों से निर्लिप्त रहता है। वह न इनकी उत्पत्ति मानता है, न विनाश; न इनको कारण मानता है, न कार्य। समस्त धर्म (बुद्धिग्राह्य पदार्थ) उत्पत्ति और विनाश से रहित हैं।

समस्त धर्म माया और स्वप्न के समान हैं। सम्यक् सम्बुद्ध भी और निर्वाण भी माया और स्वप्न के समान हैं, अन्य धर्मों की तो बात ही क्या! यदि निर्वाण से भी बढ़ कर कोई अन्य धर्म हो तो उसे भी माया और स्वप्न के समान कहना चाहिये।

यदि स्वयं तथागत, अर्हत, सम्यक् सम्बुद्ध भी गंगा नदी के बालू के कणों के समान असंख्य कल्पों तक गंभीर स्वर से 'जीव है', 'जीव है', इस प्रकार कहते रहें, तो भी वास्तव में न तो किसी जीव की उत्पत्ति हुई, न हो रही है और न होगी और न किसी जीव का विनाश हुआ, न हो रहा है और न होगा ही, क्योंकि आत्मा आदि-शुद्ध होने के कारण उत्पत्ति और विनाश से लिप्त नहीं है।

न किसी जीव ने निर्वाण प्राप्त किया, न किसी ने उसे निर्वाण प्राप्त कराया। धर्मों की धर्मता ही माया के कारण निर्भर है।

तर्क वितर्क, विवाद, विरोध—ये सब प्रज्ञापारमिता के बल से शान्त हो जाते

हैं। जितने निमित्त हैं, उतने ही संग हैं; निमित्त से संग होता है। जो सब धर्मों की स्वभाव-शान्तता है वही प्रज्ञापारमिता है। तथागत ने सब धर्मों को अकृत जाना है। इस प्रकार का ज्ञान होने पर सब संग-कोटियाँ नष्ट हो जाती हैं।

जितने उत्पन्न धर्म हैं वे सब विनाशशील होने के कारण अनित्य हैं, सब दुःखमय हैं। तीनों लोक स्वभावशून्य हैं। समस्त बुद्धिगम्य पदार्थ स्वतन्त्र सत्ता से रहित हैं। पण्डित लोगों को इस प्रकार सब वस्तुओं को अनित्य, क्षणिक और दुःखरूप जान कर क्रमशः स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् बनने के लिये यहाँ ही प्रयत्न करना चाहिये।

हे सुभूति! जिस प्रकार महासमुद्र में नौका टूट जाने पर जो लोग पतवार का या लकड़ी के तख्ते का या किसी शव का सहारा नहीं लेते हैं, वे जल में ही डूब जाते हैं, और जो लोग सहारा ले लेते हैं वे पार जाकर स्थल पर स्थित हो जाते हैं, इसी प्रकार जो लोग प्रज्ञापारमिता का सहारा नहीं लेते, वे सर्वज्ञता को न पाकर श्रावक या प्रत्येकबुद्ध ही बने रहते हैं, किन्तु जो लोग प्रज्ञापारमिता को प्राप्त कर लेते हैं वे सर्वज्ञ बन कर अद्वितीय सम्यक् सम्बोधि का साक्षात्कार करते हैं। जिस प्रकार कच्चे घड़े में पानी नहीं लाया जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर घड़ा गल कर मिट्टी बन जाता है और पानी गन्दा होकर बह जाता है, किन्तु अच्छी तरह पकाये गये घड़े में पानी लाया जा सकता है, उसी प्रकार परिपक्व प्रज्ञा का आश्रय लेने पर ही बोधिसत्त्व कृतकृत्य हो सकता है।

सब धर्मों की धर्मता अनिर्वचनीय है; सब धर्म भी अनिर्वचनीय हैं। शून्यता अनिर्वचनीय है। जो प्रज्ञापारमिता में विचरता है वह परमार्थ में विचरता है, निमित्त में नहीं। यह प्रतीत्यसमुत्पाद गम्भीर है। समस्त धर्म नाम-रूप मात्र हैं और उनका निर्वचन केवल व्यवहार-दृष्टि से ही संभव है। समस्त धर्म न आते हैं न जाते हैं, न उनके प्रति राग है न द्वेष; वे संग और असंग से रहित हैं; वे ब्रह्मरूप हैं। तथागत प्रपञ्चशून्य हैं। तथागत न आते हैं न जाते हैं। समस्त धर्म बन्धन और मोक्ष से रहित हैं, स्वभाव-शून्य हैं, उनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है—यह ज्ञान ही प्रज्ञापारमिता है।

समस्त धर्म कारण-कार्य-श्रृङ्खला मात्र हैं—प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। उनका उदय और निरोध कैसे होता है, यह महाश्रमणबुद्ध ने बताया है।

(३)

शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र

जो शान्ति के इच्छुक श्रावकों को सर्वज्ञ बना कर परम शान्ति प्रदान करती है, जो मार्ग दिखा कर संसार का हित करने वाली है। जो लोक में परमार्थ को प्राप्त कराने वाली है अथवा जो ज्योतिर्मय परम तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाली है, जिसके कारण समस्त विश्व अद्वय हो जाता है उस श्रावकों, बोधिसत्त्वों और बुद्धों की जननी भगवती प्रज्ञापारमिता को हम नमस्कार करते हैं।

रत्न तीन हैं—बुद्ध, धर्म और संघ। आर्यसत्य चार हैं—दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। स्कन्ध पाँच हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। पारमिता छः हैं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा।

ब्रह्मविहार चार हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा।

ध्यान चार हैं। प्रथम ध्यान के पाँच अंग हैं—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और चित्त की एकाग्रता। द्वितीय ध्यान के चार अंग हैं—आत्मसंप्रसाद, प्रीति, सुख और चित्त की एकाग्रता। तृतीय ध्यान के पाँच अंग हैं—उपेक्षा, स्मृति, संप्रजन्य, सुख और चित्त की एकाग्रता। चतुर्थ ध्यान के चार अंग हैं—उपेक्षा, परिशुद्धि, स्मृति और सुख-दुःख से रहित चित्त की एकाग्रता।

प्रथम ध्यान में विहार करने वाला, काम, पाप और अकुशल धर्मों से रहित होकर वितर्क, विचार और विवेक से उत्पन्न प्रीतिसुख का अनुभव करता है। द्वितीय ध्यान में विहार करने वाला वितर्क और विचार के क्षय के कारण उत्पन्न आत्मसंप्रसाद का और चित्तैकाग्रता के कारण उत्पन्न समाधि के प्रीतिसुखका अनुभव करता है। तृतीय ध्यान में विहार करने वाला प्रीति के उपशम के कारण उत्पन्न उपेक्षा का, परमार्थ स्मृति का और प्रीतिरहित सुख का अनुभव करता है। चतुर्थ ध्यान में विहार करने वाला मन की भली और बुरी अवस्था के क्षय के कारण सुख और दुःख दोनों के उपशम से उत्पन्न तथा उपेक्षा और स्मृति से परिशुद्ध चित्तैकाग्रता का अनुभव करता है।

समाधि तीन हैं—शून्यता, आनिमित्त और अप्रणिहित। शून्यता समाधि में सब धर्मों की स्वभावशून्यता के ज्ञान के कारण उत्पन्न आनन्द का अनुभव होता है। आनिमित्त समाधि में सब धर्मों की प्रतीत्यसमुत्पन्नता के कारण उत्पन्न

आनन्द का अनुभव होता है। अप्रणिहित समाधि में सुख-दुःख आदि समस्त द्वैत रहित चित्तैकाग्रता के कारण उत्पन्न आनन्द का अनुभव होता है।

समस्त बुद्धिग्राह्य पदार्थ मायानिर्मित हैं। न उनकी उत्पत्ति है और न विनाश; न ह्रानि है न वृद्धि; न बन्धन है न मोक्ष; न भाव है न अभाव; न नित्य है न अनित्य; न सुख है न दुःख; न आना है न जाना; न शून्य है न अशून्य।

समस्त पदार्थ केवल व्यवहार दृष्टि से हैं; न उनकी उत्पत्ति है न विनाश। उनकी सत्ता केवल नाम के लिये, संकेत के लिये है। नाम रूप ही शून्यता है, शून्यता ही नाम रूप है। नामरूप ही माया है, माया ही नामरूप है। माया की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सब कुछ अद्वय है, अद्वैत है।

(४)

दशभूमिक सूत्र

जिसमें उत्तम गुण वाली दस पारमिता का और लोक-कल्याण के लिये सर्वज्ञ बुद्ध द्वारा उपदिष्ट दस भूमि का तथा जन्म-मरणरहित मध्यम मार्ग का वर्णन है उस दशभूमिक सूत्र को बोधि प्राप्त करने के इच्छुक सुनें।

दस भूमि ये हैं—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा।

प्रमुदिता भूमि में बोधिसत्त्व को अधिक प्रमोद, प्रसाद, अहिंसा, प्रीति, अक्रोध और उत्साह होता है। जगत् के विषयों से दूर हट जाने के कारण और बुद्धिभूमि के समीप आने के कारण वह प्रमुदित होता है।

विमला भूमि में बोधिसत्त्व स्वभाव से ही दस कुशल कर्मों से युक्त होता है। वह सम्यग्दृष्टि भी प्राप्त कर लेता है।

प्रभाकरी भूमि में वह उत्पन्न पदार्थों की अनित्यता, दुःखता, अशुभता और प्रतीत्यसमुत्पन्नता का अनुभव करता है और अपने चित्त को विषयों से हटा कर बुद्ध-ज्ञान की ओर प्रेरित करता है। चित्त में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना उत्पन्न करता है। उसके दृष्टिकृत बन्धन तो पहले ही क्षीण हो जाते हैं।

अर्चिष्मती भूमि में सत्काय दृष्टि (आत्मदृष्टि) के कारण उत्पन्न होने वाले

तथा जीव, स्कन्ध, धातु और आयतन के प्रति आसक्ति के कारण प्रवृद्ध सब वितर्क क्षीण हो जाते हैं।

सुदुर्जया भूमि में वह चारों आर्यसत्यों को यथावत् जान लेता है और संवृति सत्य तथा परमार्थ सत्य में कुशल हो जाता है। वह जान लेता है कि सब पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न, सापेक्ष, सांवृत, तुच्छ और मिथ्या हैं।

अभिमुखी भूमि में वह यह जान लेता है कि सारा लोकव्यवहार अहंकार तथा आत्मा में आसक्ति के कारण होता है। वह प्रतीत्यसमुत्पाद को यथावत् जान लेता है। उसे ज्ञात हो जाता है कि तीनों लोक चित्तमात्र हैं। उसमें प्रबल महाकरुणा जागृत होती है। वह प्रज्ञापारमिता को पा लेता है।

दूरंगमा भूमि में उसे सर्वधर्मशून्यता और पुद्गलशून्यता का ज्ञान होता है। किसी पदार्थ में उसकी आसक्ति नहीं होती। उसको दस पारमिता, चार संग्रह-वस्तु और सारे बोध्यंग धर्म क्षण-क्षण में परिपूर्ण होते हैं। उसके कर्म निष्काम होते हैं।

अचला भूमि में वह जान जाता है कि सारे पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण वास्तव में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश से रहित होते हैं। उसे समता प्राप्त हो जाती है। वह धर्मधातु में विचरण करता है।

साधुमती भूमि में वह कुशल, अकुशल और अव्याकृत धर्मों को यथावत् जान लेता है। बोधिसत्त्व की वाणी में धर्मोपदेश करता है। तथागत के धर्मकोश की रक्षा करता है। सावधान होकर तथागत दर्शन को कभी नहीं छोड़ता। रात-दिन प्रचुर मात्रा में गंभीर बोधिसत्त्व विमोक्ष प्राप्त करता है।

धर्ममेघा भूमि में बोधिसत्त्व सर्वज्ञ और सम्यक् सम्बुद्ध हो जाता है तथा सब समाधियों को पा लेता है। जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा अपने ज्येष्ठ राजकुमार को दिव्य, सिंहासन पर बैठा कर पुष्प, धूप, गन्ध, दीप, माला, विलेपन, चामर, ध्वज, वाद्य और गीत के साथ चारों समुद्रों से लाये गये जल को स्वर्णकलश में भर कर उस जल से राजकुमार के मस्तक पर अभिषेक करता है, उसी प्रकार धर्ममेघा भूमि में स्थित बोधिसत्त्व का भगवान् बुद्ध बुद्ध-ज्ञान से अभिषेक करते हैं, तब वह बोधिसत्त्व धर्ममेघा भूमि में प्रतिष्ठित कहा जाता है।

(५)

लङ्कावतार सूत्र

जिसमें भगवान् बुद्ध ने धर्मों के नैरात्म्य का उपदेश दिया, वह लङ्कावतार सूत्र यहाँ यत्नपूर्वक लिखा जाता है।

लोक उत्पत्ति और विनाश से रहित है। आकाशकुसुम की तरह मिथ्या है। सदसद् विलक्षण है क्योंकि इसकी उपलब्धि न 'सत्' रूप में हो सकती है और न 'असत्' रूप में। यह ज्ञान प्रज्ञा द्वारा और भगवान् बुद्ध की कृपा द्वारा ही हो सकता है।

विज्ञान के अतिरिक्त (क्योंकि विज्ञान बुद्धिग्राह्य नहीं है, अपितु स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश है) सारे पदार्थ जो बुद्धिग्राह्य हैं मायाजन्य हैं। वे न 'सत्' कहे जा सकते और न 'असत्'। यह ज्ञान प्रज्ञा द्वारा और भगवान् बुद्ध की कृपा द्वारा ही हो सकता है।

धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य तथा ज्ञेयावरण और क्लेशावरण आनिमित्त समाधि में विशुद्ध हो जाते हैं। यह ज्ञान प्रज्ञा द्वारा और भगवान् बुद्ध की कृपा द्वारा ही हो सकता है।

हे महामति! जिस प्रकार मृत्पिण्ड मृत्परमाणुओं से न तो भिन्न कहा जा सकता है और न अभिन्न, या जिस प्रकार सुवर्ण से बना हुआ आभूषण न तो सुवर्ण से भिन्न कहा जा सकता है और न अभिन्न, उसी प्रकार प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान से न तो भिन्न कहे जा सकते हैं और न अभिन्न, क्योंकि यदि वे भिन्न हैं तो आलयविज्ञान उनका कारण नहीं हो सकता और यदि वे अभिन्न हैं तो उनके निरुद्ध होने पर आलयविज्ञान का भी निरोध होना चाहिये (जो नहीं होता)।

जिस प्रकार समुद्र में वायु की उपाधि के कारण तरङ्गें नाचा करती हैं, उसी प्रकार नित्य आलयविज्ञानरूपी समुद्र में विषयरूपी वायु से प्रेरित होकर प्रवृत्ति-विज्ञानरूपी विविध तरङ्गें नाचा करती हैं और उनके कारण आलयविज्ञान भी नाचता हुआ प्रतीत होता है। जिस प्रकार तरङ्गें समुद्र से न तो भिन्न हैं और न अभिन्न, उसी प्रकार सातों प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान से न तो भिन्न हैं और न अभिन्न। पाँच इन्द्रियविज्ञानों (चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, जिह्वा और काय) से विषय की कल्पना अर्थात् वेदना या वासना होती है; मनोविज्ञान द्वारा उसकी उपलब्धि होती है;

विशिष्टमनोविज्ञान द्वारा उसका ज्ञान होता है और इन सबके पीछे इनके आधारभूत एकीकरणशील चित्त या आलयविज्ञान की सत्ता है। वास्तव में ये आठों ही अभिन्न हैं। न ये लक्षण हैं न लक्ष्य।

महामति भगवान् बुद्ध से पूछते हैं—हे भगवन्! आप तथागतगर्भ को स्वयं-ज्योति, आदि विशुद्ध, सर्वजीवान्तर्यामी, मलिन वस्तु में छिपे हुए बहुमूल्य रत्न के समान, स्कन्ध, धातु और आयतन में छिपा हुआ तथा राग, द्वेष एवं महाभूतों के मैल से मलिन सा प्रतीत होने वाला, नित्य, ध्रुव, शिव और शाश्वत बतलाते हैं। तब, हे भगवन्! आपका यह तथागतगर्भवाद अबौद्धों के आत्मवाद से कैसे भिन्न कहा जा सकता है? अबौद्ध भी आत्मा को नित्य, निर्गुण, विभु और अव्यय मानते हैं। भगवान् बुद्ध उत्तर देते हैं—हे महामति! मेरा तथागतगर्भ अबौद्धों के आत्मा से भिन्न है। तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध साधारण लोगों को, जो नैरात्म्यवाद से भयभीत हो जाते हैं, सुखपूर्वक उपदेश देने के लिये निर्विकल्प, निराभास, प्रज्ञागोचर, तथागतगर्भ का इस प्रकार उपदेश देते हैं। बोधिसत्त्वों को चाहिये कि तथागतगर्भ में आत्मा की भ्रान्ति न करें, इसे आत्मा मान कर इसमें आसक्त न हों। परमार्थ का बुद्धज्ञान द्वारा साक्षात्कार होता है। परमार्थ तर्क और बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है क्योंकि वहाँ तक वाणी, बुद्धि और विकल्प की पहुँच नहीं है तथागतों का धर्म-उपदेश चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त होता है। बुद्धि की चारों कोटियाँ (अस्ति, नास्ति; उभय और अनुभय) केवल लोकव्यवहार में चलती हैं। जो सब प्रपञ्च से परे है वही तथागत है। जितने भी बुद्धिग्राह्य पदार्थ हैं उनका अपना कोई स्वभाव (स्वतन्त्र सत्ता) नहीं है, इसीलिये उनको निःस्वभाव (परतन्त्र और सापेक्ष) और अनिर्वचनीय (सदसद्-विलक्षण) कहा गया है। ज्ञान (प्रवृत्तिविज्ञान) चित्त (आलयविज्ञान) पर आश्रित होकर विषयों से सम्बन्धित होता है (विषय-विज्ञप्ति बनाता है) और इसका प्रसार केवल तर्क या बुद्धि के व्यावहारिक क्षेत्र तक ही सीमित है (क्योंकि यह ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी के प्रपञ्च पर निर्भर है)। अविशेष (अद्वय) और निराभास (निर्विकल्प) परमार्थ के क्षेत्र में केवल प्रज्ञा (अपरोक्ष बुद्ध-ज्ञान) की ही पहुँच है।

ज्ञेयावरण के नष्ट होने पर धर्मनैरात्म्य और क्लेशावरण के नष्ट होने पर पुद्गल-नैरात्म्य की उपलब्धि होती है तथा क्लेश और उपक्लेश के क्षीण होने पर बुद्धत्व प्राप्त होता है।

निर्विकल्प अपरोक्ष बोधि द्वारा ही तत्त्वसाक्षात्कार होता है। बुद्धि और वाग्विकल्प की पहुँच तत्त्व तक नहीं है, अतः तत्त्व अनिर्वचनीय और अपरोक्षानुभूति-गम्य है। जिस रात तथागत को बोधि का साक्षात्कार हुआ उस रात से लेकर जिस रात तथागत का निर्वाण हुआ उस रात तक तथागत ने तत्त्व के विषय में एक भी अक्षर नहीं कहा क्योंकि बुद्ध-वचन अनिर्वचनीय है। परमार्थ शब्दग्राह्य नहीं है, अतः जो अक्षरों और शब्दों द्वारा तत्त्वोपदेश देते हैं वे केवल प्रलाप करते हैं। सम्पूर्ण प्रपञ्च का उपशम होने पर ही तत्त्व-साक्षात्कार होता हैं। शब्द केवल व्यावहारिक संकेत का कार्य करते हैं। उन्हीं को मुख्य नहीं समझना चाहिये। जिस प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी को उंगली से कोई वस्तु दिखलावे। और वह मूर्ख यदि उँगली को ही देखता रहे तो उसे उस वस्तु के दर्शन नहीं हो सकते, जिस प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी को उंगली से चन्द्रमा दिखलावे और वह मूर्ख केवल उँगली को ही देखता रहे तो उसे चन्द्रदर्शन नहीं हो सकता, इसी प्रकार शब्दों द्वारा अनिर्वचनीय तत्त्व की ओर संकेत मात्र किया जाता है, किन्तु यदि कोई मूर्ख शब्दों के जाल में ही फँसा रहे तो तत्त्वदर्शन नहीं हो सकता।

शून्यता का अर्थ नास्तिक्य नहीं है। 'अस्ति' और 'नास्ति दोनों के पार जाने का नाम 'शून्यता' है। शून्यता को 'अभाव' रूप में समझने की अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा है कि सुमेरु पर्वत के बराबर विशाल 'भावदृष्टि' रक्खी जाय। जो शून्यता को 'अभाव' मानता है वह 'वैनाशिक' है अर्थात् उसे ही जगत् का, पुण्य-पाप का, धर्म-अधर्म का, भाव-अभाव आदि का विनाश अभीष्ट है, शून्यवादी को नहीं। यह संसार वास्तव में न तो 'सत्' है, न 'असत्' और न 'सदसत्'। यह सापेक्ष और अनिर्वचनीय है; केवय व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। जब यह ज्ञान हो जाता है तब चित्त विषयों से हट जाता है और अहङ्कार, ममकार के क्षीण हो जाने से सच्चा नैरात्म्य ज्ञान होता है। तीनों लोक विकल्पमात्र लगते हैं। फिर पुद्गलनैरात्म्य के साथ-साथ धर्मनैरात्म्य की उपलब्धि होने लगती है और समस्त बाह्य पदार्थ भी, जीवात्मा की तरह, विकल्पमात्र प्रतीत होते हैं। विषय और जीव के पार जाने पर विशुद्ध चैतन्यरूप 'चित्तमात्र' या 'विज्ञान-मात्र' की ही उपलब्धि होती है—यही ताथागती प्रज्ञा है। तर्कप्रपञ्च और बुद्धि की कोटियों में फँसे प्राणी अद्वय तत्त्व की ओर प्रवृत्त नहीं हो पाते। सविकल्प बुद्धि ही तीनों लोकों के दुःखों की जननी है और तत्त्वसाक्षात्कार ही दुःखों के विनाश का एक मात्र कारण है।

(६)

सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र

हे शारिपुत्र ! बुद्धज्ञान अत्यन्त दुर्दृश्य और गम्भीर है। इसको पाना कठिन है। इसकी ठीक उपलब्धि न होने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। देवता और मनुष्य भयभीत हो जाते हैं। भिक्षु अभिमानी बन कर पतित हो जाते हैं। सद्धर्म तर्क-गम्य नहीं है। इसका केवल ताथागती प्रज्ञा द्वारा ही साक्षात्कार हो सकता है।

फिर भी, बिना व्यवहार के परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता, अतः तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध अनेक पुरुषों के हित के लिये, अनेक पुरुषों के सुख के लिये, लोक पर अनुकम्पा करके, महान् जनकार्य के लिये, देवों और मनुष्यों के हित और सुख के लिये, अनेक प्रकार के उपाय कौशल से सद्धर्म को प्रकाशित करते हैं।

जो समस्त बुद्धिगम्य पदार्थों को स्वतन्त्र सत्तारहित होने के कारण 'अनात्म' और 'स्वभावशून्य' समझता है वही भगवान् बुद्ध की बोधि को वास्तव में जानता है। जो इसे नहीं जानते वे महाअज्ञानी लोग, जात्यन्धों के समान, 'अविद्या' से लेकर 'जरा-मरण' तक के द्वादश अङ्गों वाले दुःखमय 'प्रतीत्यसमुत्पाद' नामक भवचक्र में संसरण किया करते हैं। जो सब धर्मों को माया, स्वप्न, कदली-स्कन्ध, प्रतिध्वनि आदि के समान निःसार समझता है; जो तीनों लोकों को स्वभावशून्य, तथा बन्धन-मोक्ष रहित और अत्यन्त 'सम' (अद्वय) जानता है, वही शिवस्वरूप (कल्याणमय) अमृतमय शाश्वत निर्वाण का साक्षात्कार करता है।

(७)

समाधिराज सूत्र

मैं बुद्ध-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से उस महायान की स्तुति करता हूँ जिसकी न उत्पत्ति है न विनाश, जो परम शुद्ध है, जो शब्द-गम्य नहीं है और जो सब प्राणियों को इस घोर संसार-सागर के पार पहुँचा कर उनको शान्त, शिव और अद्वितीय निर्वाण-स्थल पर प्रतिष्ठापित करता है।

मैं, ज्ञान हो जाने के कारण, पाँचों स्कन्धों को स्वभाव-शून्य मानता हूँ;

उनको स्वभाव-शून्य मानने के कारण मैं क्लेशों और उपक्लेशों से पीड़ित नहीं होता; मैं परिनिर्वृत होकर इस लोक में व्यवहार-मार्ग को निभा रहा हूँ।

नीतार्थ (परमार्थ) दृष्टि से सब धर्मों को भगवान् बुद्ध ने स्वभाव-शून्य बतलाया है, किन्तु नेयार्थ (व्यवहार) दृष्टि से पुद्गल या जीव की और अन्य सब धर्मोंकी सत्ता मान्य है।

किसी शीशे में या तैल-पात्र में अलङ्कृत नारीमुख के प्रतिबिम्ब को देख कर यदि कोई मूर्ख रागवश कामवासना की तृप्ति के लिये उसके पीछे दौड़े तो उसे प्रतिबिम्ब में वास्तविक सुख नहीं मिल सकता, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थों के पीछे पागल होकर दौड़ने वाले को कोई वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। जिस प्रकार गन्धर्वनगर, मृगमरीचिका; माया, स्वप्न इत्यादि हैं उसी प्रकार समस्त सांसारिक पदार्थों को भी स्वभावशून्य और प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण वास्तव में अनुत्पन्न समझना चाहिये। जिस प्रकार कोई कुमारी स्वप्न में पुत्र-जन्म से प्रसन्न और पुत्र-मृत्यु से दुःखी हो, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति से साधारण लोगों को हर्ष और अप्राप्ति या विनाश से दुःख होता है। वास्तव में सांसारिक पदार्थ न 'सत्' हैं न 'असत्'; न उनकी उत्पत्ति है न विनाश। जो लोग 'अस्ति' और 'नास्ति' की कल्पनाओं में फँसे हुये हैं उनका दुःख शान्त नहीं होता। 'अस्ति' और 'नास्ति', 'शुद्धि' और 'अशुद्धि', दोनों बुद्धि की कोटियाँ हैं; पण्डित जन इन दोनों कोटियों को छोड़ देते हैं और 'मध्य' में भी चिपके नहीं रहते; वे उसके भी पार चले जाते हैं। 'अस्ति', 'नास्ति' आदि, सब तर्क-विवाद हैं। विवाद करने से दुःख-निवृत्ति नहीं होती।

बहुत से लोग 'शून्यता' 'शून्यता' चिल्लाते हैं, किन्तु उसका अर्थ नहीं जानते। शून्यता के वास्तविक अर्थ को बिना समझे ही वे हम पर मिथ्या लाञ्छन लगाते हैं और हमारे शत्रुओं से प्रेरित होकर हमारे विरुद्ध विष वमन करते हैं। किन्तु हम उनसे झगड़ा नहीं करते। अद्वय शून्यवाद में विरोध को स्थान कहाँ? हम उन मूर्खों से लड़ने के बजाय उनका सत्कार करके उनको विदा करते हैं। यदि कोई भगवान् बुद्ध के सदुपदेश को नहीं समझे या अन्यथा समझे तो यह उसी भवातुर प्राणी का दोष है, न भगवान् का और न उनके सदुपदेश का, जिस प्रकार यदि कोई रोगी उसके रोग की रामबाण ओषधि को सेवन ही न करे या विष समझ कर फेंक दे तो यह उस रोगी का ही दोष है, न कि ओषधि का या वैद्य का।

(८)

सुवर्णप्रभास सूत्र

विशुद्ध-विज्ञान-रूप बुद्ध-काय ही जीव और जगत्मय प्रपञ्च के रूप में प्रतीत होता है। संसार बुद्ध-काय का 'विवर्त' मात्र है, वास्तविक 'परिणाम' नहीं। जब गङ्गा के प्रवाह में पुष्प उगने लगेंगे तब बुद्ध-काय का सरसों के बराबर 'परिणाम' होगा! जब शशश्रृङ्गों से स्वर्गारोहण के लिये सुदृढ़ सीढ़ियाँ निर्मित होंगी तब बुद्ध-काय का वास्तविक 'परिणाम' होगा! वास्तव में बुद्ध-काय धर्मकाय है; तथागत धर्मधातु-स्वरूप हैं; विशुद्धविज्ञानरूप हैं—यही सच्चा धर्मोपदेश है। समस्त पदार्थ स्वभावशून्य हैं। अविद्याजन्य और प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। विद्वान् को चाहिये कि ज्ञानरूपी तलवार से इस क्लेशरूपी जाल को काट फेंके और उदार निर्विकल्प बोधि का साक्षात्कार करे।

आओ हम सब मिल कर इस श्रेष्ठ धर्म का डङ्का पीटें, इस श्रेष्ठ धर्म का शङ्ख बजावें, इस श्रेष्ठ धर्म की मशाल जला कर अज्ञानान्धकार को दूर करें, इस श्रेष्ठ धर्म की वर्षा करके संसारतापसन्तप्त प्राणियों को शान्ति दें!

अन्य महायान सूत्र

(१)

वज्रच्छेदिका

हे सुभूति! तथागत की सम्यक् सम्बोधि अनुत्पन्न है, इसलिये भगवान् बुद्ध भी अनुत्पन्न हैं। यह अनुत्पाद ही परमार्थ है! तथागत का अर्थ है जो न कहीं जाता है और न कहीं से आता है।

(२)

नैरात्म्य परिपृच्छा

लोकधर्मों में लिप्त मूर्ख जन इस भव-चक्र में घूमा करते हैं। वे परमार्थ को नहीं जानते जहाँ भव का निरोध हो जाता है। सारे संस्कृत पदार्थ अनित्य, अध्रुव और क्षणभङ्गुर हैं, अतः परमार्थ के ज्ञाता को संवृति का स्थान छोड़ देना चाहिये। स्वर्गलोक में भी जो देव, गन्धर्व, अप्सरायें आदि हैं उन सबका पुण्य क्षीण हो जाने पर पतन हो जाता है—यह सब संवृति का फल है। अतः विद्वान् को चाहिये

कि दिव्य स्वर्ग-सुख को भी छोड़ कर सदा स्वप्रकाश बोधिचित्त की भावना करे। बोधिचित्त निःस्वभाव (भाव, अभाव आदि कोटियों से अस्पृष्ट), निरालम्ब (निरपेक्ष), प्रपञ्चशून्य, आलयातीत और अद्वय है।

(३)

राष्ट्रपाल परिपृच्छा

इस संसार में किसी को न माता, न पिता और न बन्धु-बान्धव दुर्गति से बचा सकते हैं; अपने ही शुभाशुभ कर्म मृत्यु के बाद भी जीव के साथ जाते हैं।

जो पाप कर्म छोड़ कर पुण्य कर्म करते हैं वे, शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के समान, नित्य बोधिमार्ग में बढ़ते रहते हैं।

करोड़ों कल्पों के बाद लोक-कल्याण करने वाले महर्षि बुद्ध उत्पन्न होते हैं।

वह उत्तम क्षण सौभाग्य से प्राप्त हो गया है। यदि मोक्ष की इच्छा हो तो प्रमाद छोड़ दो।

इस जगत् को अनाथ तथा जन्म, जरा, मरण, शोक, रोग आदि से पीड़ित देखकर भगवान् बुद्ध कल्याणकारी धर्मनौका द्वारा लोगों को भवसागर के पार ले जाते हैं।

(४)

मञ्जुश्री परिपृच्छा

हे मञ्जुश्री ! जिसने सारे पदार्थों को अनुत्पन्न जान लिया उसने दुःख को जान लिया। जिसने सारे पदार्थों की तुच्छता देख ली उसने दुःखसमुदय रोक लिया। जिसने सारे पदार्थ आदि-शान्त समझ लिये उसे दुःख-निरोध का साक्षात्कार हो गया। जिसने सारे पदार्थों का अभाव देख लिया उसे मार्ग की भावना हो गई।

(५)

शालिस्तम्ब सूत्र

जो प्रतीत्यसमुत्पाद को प्रज्ञा द्वारा यथावत् शिव, अभय, अनिराकरणीय, अव्यय और नित्य देखता है वह बुद्धि की आदि, मध्य और अन्त की कोटियों में नहीं फँसता।

(६)

रत्नकूट सूत्र

हे काश्यप ! शून्यता को नितान्त अभाव रूप में समझने की अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा है कि सुमेरु पर्वत के बराबर जीवदृष्टि मानी जाय। यह किसलिये ? इसलिये कि सब दृष्टियों से पिण्ड छुड़ाने का नाम ही शून्यता है। जो शून्यता को भी किसी 'दृष्टि' के रूप में ग्रहण करता है वह असाध्य है। मान लो कि किसी कोष्ठबद्धता के रोगी को वैद्य ने एक उग्र रेचक औषध दी; अब यदि वह औषध रोगी के पेट से सब दोषों को बाहर निकाल कर स्वयं कोष्ठ से न निकले तो क्या तुम समझते हो कि वह रोगी रोगमुक्त हो गया ? दोष के साथ औषध को भी निकलना चाहिये अन्यथा वह पेट में और गड़बड़ करेगी, इसी प्रकार सब दृष्टियों के साथ 'शून्यता-दृष्टि' भी दूर होनी चाहिये।

आयुष्मान् भिक्षुओं ! शील, समाधि और प्रज्ञा का न तो संसरण होता है न निर्वाण। ये धर्म निर्वाण के सूचक हैं और स्वभाव से ही अत्यन्त विशुद्ध हैं। संज्ञावेदयित निरोधसमापत्ति (असंप्रज्ञात समाधि) प्राप्त करो। इसके बाद कोई कर्तव्य नहीं रहता।

आयुष्मान् सुभूति ने उन भिक्षुओं से इस प्रकार कहा—

'आयुष्मान् भिक्षुओं ! आप कहाँ गये थे और कहाँ से आये हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया—'भदन्त सुभूति ! भगवान् का धर्मोपदेश न तो कहीं जाने के लिये है और न कहीं से आने के लिये।'

'आपके उपदेशक हैं ?'

'जिनकी न उपत्ति है न निर्वाण।'

'आपने धर्म किस प्रकार सुना ?'

'न बन्धन के लिये न मोक्ष के लिये।'

'आपको किसने दीक्षा दी ?'

'जिसका न शरीर है न चित्त।'

'आप किस लिये प्रयुक्त हैं ?'

'न अविद्या के विनाश के लिये न विद्या की उत्पत्ति के लिये।'

'आप किसके श्रावक हैं ?'

'जिसे न क्लेश हुआ न अभिसम्बोधि ।'

'आपके साथी कौन हैं ?'

'जो तीनों लोकों में नहीं विचरते ।'

'क्या आप लोग अपना कर्तव्य कर चुके ?'

'अहङ्कार और ममकार को जान लिया ।'

'क्या आप लोगों के क्लेश क्षीण हो गये ?'

'समस्त सांसारिक धर्मों के अत्यन्त क्षय के कारण ।'

'क्या आप लोगों ने मार (काम) पर विजय पा ली ?'

'पञ्चस्कन्ध की अनुपलब्धि से ।'

'आप गुरु की सेवा कर चुके ?'

'न शरीर से, न वाणी से, न मन से ।'

'आप संसार को पार कर चुके ?'

'उत्पत्ति और विनाश रहित होने से ।'

'आप चरम भूमि पर पहुँच चुके ?'

'बुद्धि की समस्त कोटियों को छोड़ देने के कारण ।'

अश्वघोष

(१)

सौन्दरनन्द

स्नेह से बढ़ कर पाश नहीं है। तृष्णा से बढ़ कर मनोहर स्रोत नहीं है। राग से बढ़ कर आग नहीं है। यदि ये तीनों न हों, तो सुख ही सुख है। ५, २८.

स्वप्नवत् असार और साधारण कामसुख से अपने चञ्चल चित्त को हटा लो; पवन से प्रेरित अग्नि जिस प्रकार हव्य पदार्थों से तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार लोगों की कामसुख से तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत उपभोग से तृष्णा बढ़ती ही जाती है। ५, २३.

जगत्-प्रपञ्च और जीव दोनों ही माया के समान हैं, इन्द्रजाल के समान हैं, क्षणिक हैं। यदि दुःखजाल को काट फेंकने की इच्छा हो तो प्रियजनरूपी मोहजाल को छोड़ दो। ५, ४५.

आप्तकाम आत्माराम मुनि स्वतन्त्र घूमता हुआ प्रेम से केवल पानी ही पीकर रह जाय तो भी उसे इन्द्र के स्वर्गसाम्राज्य से भी बढ़ कर सुख मिलता है। १४.५२.

तृष्णा आदि को ही जन्म-जन्मान्तर का कारण मानना चाहिये। दुःख का नाश उसके कारण के नाश से ही होता है। अतः तृष्णा आदि को छोड़ कर शान्त, शिव और अद्वय तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिये। १६, २५-२६.

जहाँ जन्म, जरा, मृत्यु, आधि-व्याधि, इच्छा-भङ्ग, अप्रियसंयोग और प्रियवियोग आदि नहीं होते, वही कूटस्थ, शिव और अच्युत स्थान है। १६, २७.

दीपक जब बुझने लगता है तो न पृथ्वी की ओर जाता है न आकाश की ओर और न किसी दिशा-विदिशा की ओर; केवल तेल के क्षीण होने पर वह बुझ जाता है; इसी प्रकार जब योगी निर्वाण प्राप्त करता है तो न पृथ्वी की ओर जाता न आकाश की ओर और न किसी दिशा-विदिशा की ओर; केवल क्लेश के क्षीण होने पर वह मुक्ति प्राप्त करता है। १६, २८-२९.

मेरा न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय; मुझे न राग है न द्वेष; द्वैत के क्षय से मैं पूर्ण सुखी हूँ मानों सर्दी-गर्मी दोनों से छूट गया हूँ। १७, ६७.

तुम परम गति पा चुके हो। तुम अपना कर्तव्य कर चुके हो। अब तुम्हारे लिये कुछ करना शेष नहीं रहा है। फिर भी, हे सौम्य! अब तुम लोककल्याण के लिये, दुःखी प्राणियों को कष्ट से मुक्त करने के लिये, स्वतन्त्र विचरो। १८, ५४.

मुझे प्रणाम करना मेरी पूजा नहीं है; मेरे धर्म को दृढ़ विश्वास के साथ समझना ही मेरी सच्ची पूजा है। १८, २२.

(अश्वघोष कहते हैं कि) मैंने यह 'सौन्दरनन्द' काव्य विरक्ति के लिये लिखा है, रति के लिये नहीं। मैंने अन्यत्र (महायान-श्रद्धोत्पाद शास्त्र में) जो बातें मोक्ष के लिये लिखीं हैं उनमें से कुछ यहाँ काव्य के बहाने लिखीं हैं ताकि सांसारिक प्राणी, मधुमिश्रित कड़वी दवा के समान, इसे आसानी से ग्रहण कर सकें। १८, ६३.

(२)

बुद्धचरित

रूप को हरने वाली, बल को मिटाने वाली, शोक की जननी, रति की मृत्यु, स्मृति को नष्ट करने वाली और इन्द्रियों की शत्रु यह जरा नामक राक्षसी है जिसने इस व्यक्ति को भग्न कर रक्खा है। ३, ३०.

निःसन्देह समय पाकर आपको भी यह वृद्धावस्था धर दबावेगी। रूप का विनाश करने वाली इस वृद्धावस्था को सब लोग जानते हैं, सब लोग इससे घबराते हैं, फिर भी सब लोग इसे चाहते हैं। ३, ३३.

फूले हुये पेट वाला, खाँसी से शरीर को कंपाने वाला; ढीले कन्धे और हाथ वाला, दुबले और पीले शरीर वाला, करुण स्वर में 'माँ' 'माँ' पुकारने वाला और दूसरे व्यक्ति का सहारा लेकर चलने वाला यह कौन है? ३, ४१.

तब सारथी ने उत्तर दिया—सौम्य सिद्धार्थ! इस व्यक्ति का धातुप्रकोप अत्यन्त बढ़ गया है। यह रोग नामक महान् अनर्थ है जिसने इस शक्तिशाली व्यक्ति को भी क्षण भर में परतन्त्र बना दिया है। ३, ४२.

बुद्धि, इन्द्रिय और प्राणरहित, दीर्घनिद्रा में सुप्त, संज्ञाहीन, तिनके और लकड़ी के समान जड़ यह उस व्यक्ति का शव है जिसको उसके अभिभावकों ने बड़े यत्न से रक्षा करते हुये पाला पोसा और बड़ा बनाया था और आज वे लोग ही, क्योंकि उनको केवल प्रिय पदार्थ ही प्रिय लगते हैं, मर जाने पर इसको जलाने ले जारहे हैं। (अथवा—अब मर जाने पर इसको मित्र और शत्रु दोनों ही अर्थी में यत्नपूर्वक बाँध कर जलाने ले जारहे हैं।) ३, ५७.

तब सारथी ने फिर कहा कि सारे प्राणियों की यही अन्तिम गति है। चाहे हीन हों, चाहे मध्यम, चाहे उत्तम, सब प्राणियों की मृत्यु निश्चित है। ३, ५९.

(बुद्ध उपदेश देते हैं—) मैंने जरा-मरण के भय को जान कर मोक्ष की इच्छा से इस धर्मका आश्रय लिया है। मैं अशुभ गति के हेतु कामों को और रोते हुये बन्धुओं को पहले ही छोड़ चुका हूँ। ११, ७.

मैं उग्र सर्पों से, आकाश से गिरनेवाले वज्रों से और पवन से प्रवृद्ध अग्नि से उतना नहीं डरता जितना मैं इन विषयों से डरता हूँ। ११, ८.

जिस प्रकार पवन से प्रवृद्ध अग्नि की ईंधन से तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार काम से तृष्णायुक्त पुरुष की तृप्ति नहीं होती। जिस प्रकार समुद्र, उसमें विलीन होने वाले नदियों के पानी से, तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार काम से पुरुष तृप्त नहीं होता। ११, १०, १२.

मान्धाता की इन्द्र के आधे सिंहासन को पाकर भी विषयों में तृप्ति नहीं हुई। विषयों में अतृप्त नहुष ने अभिमानोद्धत होकर महर्षियों से अपनी पालकी उठवाई और फलस्वरूप स्वर्ग से च्युत हुआ। ११, १३-१४.

वल्कल के वस्त्र पहनेवाले, कन्द, मूल, फल खाने वाले, पानी पीने वाले, बड़े बड़े सर्पों के समान लम्बी जटायें रखने वाले और कृतकृत्य मुनियों तक को जिन विषयों ने डिगा दिया उन विषयोंरूपी शत्रुओं को जीतना बड़ा कठिन है। ११, १७.

संसार द्वन्द्व मय है; यहाँ सुख, दुःख और लाभ, हानि आदि आते जाते रहते हैं; इस पृथ्वी में कोई व्यक्ति न तो अत्यन्त सुखी है और न अत्यन्त दुःखी ही। ११, ४३.

जहाँ जरा, भय, रोग, जन्म, मृत्यु, आधि आदि नहीं हैं वही पद परम पुरुषार्थ है—वहाँ कर्म-क्षय के कारण चरम शान्ति है। ११, ५९

स्वस्थ एवं प्रसन्न मन होने पर समाधि लगती है और समाधि लगने पर ध्यान-धारा का प्रवाह होता है; ध्यान-प्रवाह के कारण वे धर्म प्राप्त होते हैं जिनसे दुर्लभ, शान्त, अजर, अमर, परम और अमृत पद प्राप्त होता है। १२, १०५-१०६

तृतीय परिच्छेद

शून्यवाद

नागार्जुन

(१)

मूलमाध्यमिक कारिका

मङ्गलाचरण—हम उपदेशकुशल परमशास्ता भगवान् बुद्ध की वन्दना करते हैं जिन्होंने कृपया प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश दिया। लौकिक दृष्टि से जो प्रतीत्यसमुत्पाद दुःखमय भव–चक्र है वही पारमार्थिक दृष्टि से परम मंगलमय एवं परमानन्दरूप अद्वय तत्त्व है जहाँ समस्त प्रपञ्च शान्त हो जाते हैं—जहाँ न निरोध है न उत्पत्ति, न अनित्य है न नित्य, न एक है न अनेक और न आना है न जाना।

प्रत्यय परीक्षा—अजातिवाद ही सत्य है। कोई भी पदार्थ कभी, कहीं और कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। कोई पदार्थ न अपने आप उत्पन्न होता है, न दूसरे के कारण, न अपने और दूसरे दोनों के कारण और न बिना कारण। १, १.

हीनयानी चार प्रत्यय मानते हैं—हेतु अर्थात् उत्पत्तिकारण, आलम्बन अर्थात् विषय, समनन्तर अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व का क्षण और अधिपति अर्थात् निर्णायक नियम। कोई पाँचवाँ प्रत्यय नहीं है। १, २.

कारण की सिद्धि के लिये आवश्यक है कि उसकी कोई सत्ता हो। किन्तु जब न तो 'सत्' उत्पन्न होता है और न 'असत्' तो फिर कारण में सत्ता कहाँ से आयगी? और जब स्वयं कारण की ही कोई सत्ता नहीं है तो फिर वह कार्य की सत्ता का जनक कैसे होगा? १, ३.

फिर, कारण में कार्योत्पाद की शक्ति भी होनी चाहिये। शक्ति का अर्थ है अर्थक्रियासामर्थ्य। किन्तु क्रिया न तो कारण में रहती है और न अकारण में; कारण भी न तो सक्रिय है और न अक्रिय। अतः कारण का अर्थक्रियासामर्थ्य असिद्ध हुआ। १, ४.

कारण को कारण इसीलिये कहा जाता है कि उसके होने पर कार्य उत्पन्न

होता है। किन्तु जब तक कार्य उत्पन्न नहीं होता तब तक तो कारण को अकारण ही कहना पड़ेगा। १, ५.

न तो सत् पदार्थ का कारण माना जा सकता और न असत् पदार्थ का; क्योंकि यदि पदार्थ 'असत्' है तो उसका कारण मानने की आवश्यकता ही नहीं; और यदि पदार्थ 'सत्' है तो वह विद्यमान है और उसे अपनी उत्पत्ति के लिये किसी कारण की अपेक्षा नहीं। १, ६.

जब न 'सत्' न 'असत्', न 'सदसत्' पदार्थ उत्पन्न हो सकता है तो हेतु अर्थात् उत्पत्ति-कारण स्वयं असिद्ध हुआ। १, ७.

आलम्बन प्रत्यय भी असिद्ध है क्योंकि विषय के लिये आवश्यक है कि पूर्व में विषयी विद्यमान हो और जब विषयी विषय से पूर्व विद्यमान है तो फिर बाद में वह विषय का आश्रय कैसे ले सकता है? १, ८.

अनुत्पन्न धर्मों का निरोध नहीं हो सकता। जब किसी पदार्थ की उत्पत्ति ही सिद्ध नहीं है तो समनन्तर प्रत्यय अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व का क्षण कैसे सिद्ध हो सकेगा? अपि च, क्षणिक होने के कारण उत्पत्ति के पूर्व के क्षण का तुरन्त निरोध होना चाहिये। प्रथम तो उत्पत्तिपूर्वक्षण की ही उत्पत्ति सिद्ध नहीं है और जब उसकी उत्पत्ति ही नहीं तो फिर उसका निरोध कैसे? और यदि मान भी लिया जाय कि उसका निरोध सम्भव है तो क्षणिक होने के कारण स्वयं निरुद्ध कारण-क्षण कार्य-क्षण को कैसे उत्पन्न कर सकेगा? १, ९.

हीनयानी मानते हैं कि कारण-क्षण बिना कार्य-क्षण को जन्म दिये नष्ट नहीं होता। कारण के होते ही तुरन्त कार्य उत्पन्न होता है—'अस्मिन् सति इदं भवति'-यह अधिपति प्रत्यय या निर्णायक नियम है। किन्तु वास्तव में समस्त जगत् पदार्थ सापेक्ष और मिथ्या हैं, उनका कोई स्वभाव (स्वतन्त्र सत्ता) नहीं है, उनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। जब कारण की ही सत्ता नहीं है तो कार्य की सत्ता कैसे होगी? अतः अधिपति प्रत्यय भी असिद्ध हुआ। १, १०.

अतः चारों प्रत्यय व्यर्थ सिद्ध हुये। यदि कार्य अपने कारण में विद्यमान है तो वह 'उत्पन्न' पदार्थ है और उसकी पुनरुत्पत्ति मानना व्यर्थ है। सत्कार्यवाद के अनुसार दूध को ही दही और तन्तुओं को ही पट मानना पड़ेगा। और यदि कार्य अपने कारण में विद्यमान नहीं है तो उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य शशशृङ्ग और वन्ध्यापुत्र के समान है, अतः अजातिवाद की ही शरण लेनी पड़ती है। कार्य और कारण सापेक्ष होने से स्वभाव-शून्य और मिथ्या हैं। इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं। अतः पारमार्थिक दृष्टि से न उत्पाद है और न विनाश। १, १४.

गतागत परीक्षा—गति भ्रान्ति है। 'गत' मार्ग पर गमन नहीं हो सकता क्योंकि वह पहले ही 'गत' हो चुका है; 'अगत' मार्ग पर भी गमन नहीं हो सकता क्योंकि वह तो 'अगत' है; 'गतागत' मार्ग की कल्पना असङ्गत है; और 'गत' और 'अगत' दोनों से विलक्षण में गति का प्रश्न ही नहीं उठता। २, १.

गन्ता में गति नहीं हो सकती; अगन्ता में गति होने ही क्यों लगी; तथा गन्ता और अगन्ता दोनों से भिन्न किसी तृतीय पदार्थ में गति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। २, ८.

यदि गति और गन्ता एक हों, तो क्रिया और कर्ता का ऐक्य हो जायगा; और यदि गति और गन्ता भिन्न हों, तो बिना गति के गन्ता की तथा बिना गन्ता के गति की कल्पना करनी पड़ेगी। २, १९-२०.

अतः गति, गन्ता और गम्य स्थल तीनों सापेक्ष हैं और इसीलिये मिथ्या हैं। ५, २५.

इन्द्रिय परीक्षा—इसी प्रकार चाक्षुष आदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष भी मिथ्या हैं। न तो 'दृष्ट' देखा जा सकता है और न 'अदृष्ट' और न दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों से विलक्षण 'दृश्यमान'। ३, १.

धातु परीक्षा—इसी प्रकार धातु, आयतन आदि भी सापेक्ष और मिथ्या हैं। जो मन्द बुद्धि लोग सदसद्विलक्षण सांसारिक पदार्थों के 'अस्तित्व' या 'नास्तित्व' की कल्पना करते हैं, वे प्रपञ्च-जाल में फँसे रहते हैं और प्रपञ्चोपशम शिव तत्व का साक्षात्कार नहीं कर पाते। ५, ८.

संस्कृत परीक्षा—समस्त 'संस्कृत' अर्थात् अविद्यासंस्कारजन्य सांसारिक पदार्थ सापेक्ष, सदसद्विलक्षण और मिथ्या हैं। न उनकी उत्पत्ति है, न स्थिति और न विनाश। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश तीनों माया के समान, स्वप्न के समान, गन्धर्व-नगर के समान मिथ्या हैं। ७, ३४.

अग्नीन्धन परीक्षा—इसी प्रकार पुद्गल या जीव भी सापेक्ष और मिथ्या है। यह न तो पञ्चस्कन्धरूप है और न उनसे भिन्न। यदि स्कन्धों का और जीव

का ऐक्य माना जाय तो स्कन्धवत् पुद्गल भी जन्ममृत्युशील हो जायगा; और यदि स्कन्धों का और जीव का भेद माना जाय तो पुद्गल का ज्ञान ही न हो सकेगा। अतः जो लोग पुद्गल को पञ्चस्कन्धरूप मानते हैं या पञ्चस्कन्धभिन्न मानते हैं, वे सब लोग भगवान् बुद्ध के उपदेश को ठीक-ठीक नहीं समझते। १०, १६.

पूर्वापरकोटि परीक्षा—महामुनि भगवान् बुद्ध का शासन है कि संसार आदि-अन्त-रहित है। इसके पूर्व और पश्चात् का पता नहीं चलता। और जिसका न आदि है न अन्त, उसका मध्य कैसे स्वीकार किया जाय? अतः संसार का आदि, मध्य और अन्त, उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, सब असिद्ध हैं। ११, १-२.

दुःख परीक्षा—कुछ विद्वान् दुःख को स्वतः उत्पन्न, कुछ परतः उत्पन्न, कोई स्वतः और परतः उत्पन्न और कोई अहेतुतः उत्पन्न मानते हैं। वास्तव में दुःख की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती—न स्वतः, न परतः, न दोनों से और न अकारण। केवल दुःखी की ही नहीं, अपितु समस्त बाह्य पदार्थों की भी उत्पत्ति असम्भव है। १२, १, १०.

संस्कार परीक्षा—जिन जिनकी क्षणिक प्रतीति होती है वे वे सब मिथ्या हैं—ऐसा भगवान् का उपदेश है; अतः समस्त संस्कार—क्योंकि उनकी क्षणिक प्रतीति होती है—मिथ्या हैं। १३, १.

परिवर्तन भी असम्भव है। यदि कोई पदार्थ स्वभावयुक्त अर्थात् स्वतन्त्र और नित्य सत्ता वाला नहीं है तो अन्यथाभाव या परिवर्तन किसका होगा? और यदि कोई पदार्थ स्वभावयुक्त या नित्य है तो उसका अन्यथाभाव या परिवर्तन कैसे होगा? यदि परमार्थ नहीं है तो व्यवहार में कौन प्रतीत होगा? और यदि परमार्थ है तो वह व्यवहार कैसे बनेगा? यदि तत्व नहीं है तो संसार की प्रतीति कैसे होगी? और यदि तत्व है तो वह संसार कैसे बनेगा? १३, ४.

सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों मिथ्या हैं। यदि कार्य कारण में विद्यमान है तो उसकी पुनरुत्पत्ति अनावश्यक है; और यदि कार्य कारण में विद्यमान नहीं है तो उसकी उत्पत्ति कैसे होगी? यदि सत्कार्यवाद ठीक है तो दूध को ही दही कहना चाहिये; और यदि असत्कार्यवाद ठीक है तो बिना दूध के ही दही होना चाहिये। १३, ६.

यदि कोई अशून्य अर्थात् नित्य पदार्थ हो तो उसके आधार पर उसके परिवर्तन की प्रतीति द्वारा शून्य अर्थात् अनित्य का प्रतिपादन शायद सम्भव हो सके; किन्तु जब कोई अशून्य नित्य पदार्थ ही नहीं है तो फिर शून्य या अनित्य का प्रतिपादन कैसे हो ? १३, ७.

भगवान् बुद्ध ने शून्यता का उपदेश हमें बुद्धि की समस्त कोटियों, धारणाओं और दृष्टियों से ऊपर उठने के लिये दिया है, न कि उन्हीं में फँसे रहने के लिये। शून्यता का अर्थ है सम्पूर्ण दृष्टियों का त्याग। जो लोग शून्यता को भी 'सत्' कोटि द्वारा या 'असत्' कोटि द्वारा पकड़ कर उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं उनको भगवान् बुद्ध ने असाध्य कहा है। १३, ८.

स्वभाव परीक्षा—यदि भाव न हो तो अभाव भी नहीं हो सकता क्योंकि भाव के अन्यथाभाव को ही लोग अभाव कहते हैं। १५, ५.

जो लोग भाव, अभाव, भावाभाव आदि कोटियों में फँसे रहते हैं वे भगवान् बुद्ध के उपदेश का तत्व नही जानते। १५, ६.

भाव से शाश्वतवाद और अभाव से उच्छेदवाद प्रसक्त होते हैं, अतः विद्वान् को 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों के ऊपर उठना चाहिये। १५, १०.

बन्धनमोक्ष परीक्षा—बन्धन और मोक्ष, संसार और निर्वाण, दोनों सापेक्ष एवं मिथ्या हैं। पुद्गल को पञ्चस्कन्धरूप मानने पर या पञ्चस्कन्धभिन्न मानने पर, दोनों ही अवस्थाओं में, पुद्गल का बन्धन या मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। जो इस प्रकार सोचता है कि 'मैं पञ्चस्कन्धरूपी उपादान को पार करके निर्वाण प्राप्त करूँगा', वह स्वयं अभी तक स्कन्धों के प्रबल जाल में फँसा हुआ है। न निर्वाण की प्राप्ति होती है और न संसार की हानि। जब संसार ही नहीं है तो निर्वाण कहाँ से होगा ? अतः बन्धन और मोक्ष दोनों कल्पनामात्र हैं। १६, १-१०.

कर्मफल परीक्षा—यदि कर्म की स्वतन्त्र सत्ता हो तो उसे निःसन्देह नित्य मानना पड़ेगा और नित्य होने से कर्म 'अकृत' हो जायगा क्योंकि नित्य वस्तु 'कृत' नहीं हो सकती। १७, २२.

यदि कर्म को स्वतन्त्रसत्तारहित माना जाय तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और उत्पत्ति के अभाव में विनाश भी नहीं हो सकता। १७, २१,

यदि कर्म 'अकृत' हो तो 'अकृताभ्यागम' नामक दोष आ जायगा अर्थात्

अकृत कर्मों के फल की भी प्राप्ति होने लगेगी और तब 'अब्रह्मचर्यवास' नामक दोष भी उपस्थित होगा अर्थात् दुःख से छुटकारा पाने के लिये ब्रह्मचर्यपूर्वक सद्धर्ममार्ग का पालन करना व्यर्थ हो जायगा। १७, २३

तब सब व्यवहारों का उच्छेद हो जायगा और पुण्यपाप का विभाग भी सिद्ध नहीं होगा। १७, २४.

अतः वास्तव में कर्म को क्लेशात्मक मानना ही उचित है और जब क्लेश की ही तात्विक सत्ता नहीं है तो कर्म की तात्विक सत्ता कैसे हो सकती है? १७, २६.

और जब कर्म की तात्विक सत्ता नहीं है, तो कर्ता की और कर्म के फल की और उस फल के भोक्ता की भी तात्विक सत्ता नहीं हो सकती। १७, ३०.

फिर भी व्यवहारदृष्टि से कर्म आदि की सत्ता मान्य है। शून्यता का अर्थ उच्छेद नहीं है। संसार के शाश्वत न होने के कारण निर्वाण प्राप्ति संभव है। कृत कर्मों का विनाश नहीं होता। भगवान् बुद्ध ने व्यवहारदृष्टि से ऐसा उपदेश दिया है।

किन्तु परमार्थ दृष्टि से तो क्लेश, कर्म, देह, कर्ता, फल आदि सब गन्धर्वनगर, मृगमरीचिका और स्वप्न के समान मिथ्या हैं। १७, ३३.

आत्मपरीक्षा—आन्तर अहङ्कार और बाह्य ममकार के क्षीण हो जाने पर उपादान (संसार में आसक्ति) का निरोध हो जाता है और उपादान के निरोध होने पर भव, जाति, जरा-मरण का क्षय हो जाता है। १८, ४.

कर्मक्लेश क्षीण होने पर ही मोक्ष होता है। कर्मक्लेश अविद्याजन्य हैं। अविद्या प्रपञ्चरूप है। शून्यता की अपरोक्षानुभूति होने पर प्रपञ्च का निरोध हो जाता है क्योंकि विशुद्ध निर्विकल्प बोधिरूप प्रपञ्चशून्य शिव तत्व का नाम ही शून्यता है। १८, ५.

भगवान् बुद्ध ने अपने उपायकौशल्य से विविध विनेयों को उनकी बुद्धि के अनुरूप उपदेश दिये हैं। जो नैरात्म्यवाद के नाम से ही काँप उठते हैं उन लोगों को भगवान् ने पुण्यकर्म करने के लिये आत्मवाद (जीववाद) का उपदेश दिया ताकि जीव को शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और भोक्ता मान कर वे शुभकर्मों में प्रवृत्त हों। मध्यम श्रेणी के शिष्यों को नैरात्म्यवाद (अर्थात् जीव की स्वतन्त्रसत्ता नहीं है) का उपदेश दिया ताकि वे लोग अहंकार-ममकार का परित्याग कर सकें। उत्तम

श्रेणी के बोधिसत्वों को उन्होंने अपना वास्तविक उपदेश दिया कि जीव सदसद्‌वि-लक्षण है एवं अपरोक्ष अद्वय प्रपञ्चशून्य बोधि ही तत्व है। १८, ६.

जीव को सांवृतिक जान लेने पर पुद्‌गलनैरात्म्य की उपलब्धि होती है। अहंकार नष्ट होने पर ममकार भी नष्ट हो जाता है। 'अहमिदं' की निवृत्ति के बाद 'ममेदं' की भी निवृत्ति हो जाती है। चित्त के निवृत्त हो जाने पर चित्तगोचर विषयों की भी निवृत्ति हो जाती है। तब धर्मनैरात्म्य की उपलब्धि होती है। 'अहमिदं' और 'ममेदं', चित्त और चित्तगोचर, जीव और जगत्, पुद्‌गल और धर्म—इन दोनों की निवृत्ति हो जाने पर यह नैसर्गिक लोकव्यवहार, यह सांकेतिक जगत्प्रपञ्च, वाणी और बुद्धि पर टिका हुआ यह संसार भी निवृत्त हो जाता है। तत्वानुभूति होने पर संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं रहता—दोनों अविद्या-जन्य प्रतीत होते हैं। वास्तव में संसार भी निर्वाण के समान ही, अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है। १८, ७.

तत्व अपरप्रत्यय (अर्थात् वाणी और बुद्धि द्वारा अगम्य, अनिर्वचनीय और स्वतः सिद्ध) शान्त, प्रपञ्चसे अस्पृष्ट, निर्विकल्प और अद्वय है। यही तत्व का लक्षण है। १८, ९.

समस्त सांसारिक धर्म तो प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं और प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण वास्तव में अनुत्पन्न हैं। जो हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा रख कर उत्पन्न होता है, वह वास्तव में न स्वतः उत्पन्न होता है न परतः। अतः उसकी उत्पत्ति और विनाश असंभव है। उसकी सत्ता सापेक्ष और सांवृतिक है। १८, १०.

जगद्‌गुरु लोकनाथ भगवान् बुद्ध ने एक और नाना, नित्य और अनित्य आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वों के ऊपर उठने के लिये कहा है—यही भगवान् बुद्ध का उपदेशामृत है।

काल परीक्षा—किसी पदार्थ की अपेक्षा से ही दिक् और काल संभव है। जब किसी पदार्थ की ही स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, तो काल की स्वतन्त्र सत्ता कैसे सिद्ध होगी? १९, ६.

संभवविभव परीक्षा—उत्पत्ति के बिना विनाश और विनाश के बिना उत्पत्ति सिद्ध नहीं है। कोई भी पदार्थ न तो स्वतः, न परतः, न उभयतः और न अहेतुतः उत्पन्न हो सकता है। तब उत्पत्ति कैसे सिद्ध होगी? और जब उत्पाद

ही नहीं, तो विनाश किसका ? जब भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में उत्पत्ति असिद्ध है, तो फिर यह भवसन्तति कैसे सिद्ध होगी ? २१, १, १२, २१.

तथागत परीक्षा—संसार और तत्व दोनों 'शून्य' हैं क्योंकि दोनों अनिर्वचनीय है। संसार अनिर्वचनीय है क्योंकि सदसद्विलक्षण होने से उसका 'सत्' या 'असत्' रूप से निर्वचन नहीं हो सकता। तत्व अनिर्वचनीय है क्योंकि बुद्धि उसका ग्रहण नहीं कर सकती। संसार 'स्वभावशून्य' है क्योंकि उसका 'स्वभाव' (अर्थात् स्वतन्त्र सत्ता) नहीं है। तत्व 'प्रपञ्चशून्य' है क्योंकि बुद्धि-प्रपञ्च की अद्वय निर्विकल्प तत्व तक पहुँच नहीं। किन्तु यह सब व्यवहार दशा में ही हैं, परमार्थ में नहीं। परमार्थ अद्वय है। वहाँ संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं। परमार्थतः संसार चतुष्कोटिविनिर्मुक्त होने से न शून्य है, न अशून्य, न उभय, न अनुभय; केवल व्यवहारदशा में ही उसे 'स्वभावशून्य' कहा जाता है। तत्व भी चतुष्कोटिविनिर्मुक्त होने से न शून्य है, न अशून्य, न उभय, न अनुभयः व्यवहार दशा में ही उसे 'प्रपञ्चशून्य' कहा जाता है। २२, ११.

भगवान् बुद्ध ने चौदह प्रश्नों का उत्तर मौन द्वारा देकर यह बतलाया कि वे प्रश्न अव्याकरणीय या स्थापनीय हैं। इनके पक्ष और विपक्ष दोनों ही, सत्य और मिथ्या दोनों सिद्ध किये जा सकते हैं। अतः बुद्धि इनके उत्तर में विरोध को जन्म देकर यह संकेत करती है कि निर्विकल्प ज्ञान ही इनका उत्तर मौन साक्षात्कार द्वारा दे सकेगा। बुद्धि की सत्, असत्, उभय और अनुभव रूपी चारों कोटियों के शान्त हो जाने पर ये चौदह प्रश्न—कि (१–४) क्या जगत् शाश्वत है ? अथवा अशाश्वत ? अथवा दोनों ? अथवा दोनों नहीं ?

(५–८) क्या जगत् अन्तवान् है ? अथवा अनन्त ? अथवा दोनों ? अथवा दोनों नहीं ?

(९–१२) क्या तथागत देहत्याग के बाद विद्यमान रहते हैं ?–अथवा नहीं ? अथवा दोनों ? अथवा दोनों नहीं ?

(१३–१४) क्या जीव और शरीर एक हैं ? अथवा भिन्न ? भी स्वयं शान्त हो जाते हैं। २२, १२–१४.

जो प्रपञ्चहत प्राणी निष्प्रपञ्च और नित्य तथागत को भी प्रपञ्च में धर घसीटना चाहते हैं, वे तथागत को नहीं जानते। तथागत और संसार में कोई अन्तर नहीं।

तथागत निःस्वभाव अर्थात् उत्पत्ति और विनाश रहित हैं और यह जगत् भी निःस्वभाव है अर्थात् उत्पत्ति और विनाशरहित है। २२, १६.

आर्यसत्य परीक्षा—प्रतिपक्षी 'शून्य' का अर्थ 'नितान्त असत्' मान कर हम पर (शून्यवादी पर) आक्षेप करता है—यदि सब कुछ शून्य है तो न दुःख है, न दुःखसमुदय, न दुःखनिरोध और न दुःखनिरोधमार्ग, अतः चारों आर्यसत्यों का अभाव हो जायगा। २४, १.

यदि पुद्गल (जीव) नहीं है तो संघ किनका होगा ? आर्यसत्यों के अभाव में सद्धर्म का भी अभाव मानना पड़ेगा। २४, ४.

यदि धर्म और संघ नहीं हैं, तो बुद्ध की क्या आवश्यकता ? अतः शून्यवादी बुद्ध, धर्म और संघ—इन तीनों रत्नों का प्रतिबाध कर रहा है। २४, ५.

शून्यता के कारण धर्म और अधर्म, कर्म और फल, बन्धन और मोक्ष आदि सब असत्य हो जाते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण लोकव्यवहार का समूल उच्छेद हो जाता है। २४, ६.

हम (आचार्य नागार्जुन) इसका उत्तर देते हैं—प्रतिपक्षी के पूर्वोक्त आक्षेप यह बतलाते हैं कि वह 'शून्यता' का शब्दार्थ तक नहीं समझता, उसका प्रयोजन और महत्व समझना तो दूर रहा। २४, ७.

भगवान् बुद्ध ने दो सत्यों का आश्रय लेकर धर्मोपदेश दिया है—एक तो लोकसंवृति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्य। जो इन दोनों सत्यों का विभाग नहीं जानते वे भगवान् बुद्ध के गम्भीर दर्शन का तात्पर्य कदापि नहीं समझ सकते। २४,८–९.

विना व्यवहार का सहारा लिये परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता और बिना परमार्थ को जाने निर्वाण प्राप्ति असंभव है। २४, १०.

अत्यन्त गंभीर शून्यता कोई हँसी खेल या मजाक नहीं है; यह काले साँप को खिलाना है, दुधारी तलवार है। बुद्धि की सारी कोटियों के ऊपर उठने का नाम शून्यता है। जो शून्यता को 'असत्' मानते हैं उन मूर्खों को शून्यता नष्ट कर देती है, जैसे असावधानी से पकड़ा गया विषैला सर्प पकड़नेवाले को नष्ट कर देता है या तन्त्रसाधना में भ्रष्ट होना साधक का नाश कर देता है या जैसे मिथ्याज्ञान विनाशकारी होता है। २४, ११.

इस सद्धर्म की गंभीरता और मन्दबुद्धि पुरुषों की इसें ठीक ठीक समझ सकने की अक्षमता और इसके मिथ्याज्ञान की अनर्थोत्पादकता को देखकर भगवान् बुद्ध को बोधि प्राप्त होने के बाद सद्धर्म के उपदेश देने का उत्साह नहीं रह गया था। २४, १२.

प्रतिपक्षी व्यर्थ ही अपनी मूर्खता के कारण हम पर मिथ्या आक्षेप कर रहा है। शून्यता में दोष का कोई प्रसंग नहीं आ सकता। २४, १३.

शून्यता को ठीक समझ लेने पर ही समस्त लोकव्यवहार सिद्ध होता है; शून्यता को ठीक न समझने पर कुछ भी नहीं बन पाता। २४, १४.

प्रतिपक्षी अपने दोषों को हम पर फेंक रहा है! घोड़े पर सवार होकर भी वह अपने घोड़े को ही भूल रहा है! २४, १५.

यदि प्रतिपक्षी सांसारिक पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है, तो उसके मत में पदार्थ बिना हेतु और प्रत्यय के ही विद्यमान होने चाहिये। २४, १६.

और यदि पदार्थ नित्य सत्य हैं, तो फिर कार्य, कारण, कर्ता, करण, क्रिया, उत्पाद, निरोध, फल इत्यादि की कोई आवश्यकता नहीं। फिर लोकव्यवहार की भी कोई आवश्यकता नहीं। २४, १७.

जो प्रतीत्यसमुत्पाद है उसी को हम शून्यता कहते हैं। वही व्यावहारिक दृष्टि से लोकव्यवहार है; वही मध्यम मार्ग है। २४, १८.

बिना हेतु-प्रत्यय के कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। अतः कोई पदार्थ अशून्य अर्थात् नित्य या अप्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं है। २४, १९.

यदि सब पदार्थ अशून्य या नित्य हैं तो फिर न दुःख है, न दुःखसमुदय, न दुःखनिरोध और न दुःखनिरोध मार्ग। २४, २०,

फिर कर्म और फल के अभाव में पुद्गल का भी अभाव होगा और पुद्गल के अभाव में संघ का अभाव होगा। २४, २९.

चारों आर्यसत्यों के अभाव में सद्धर्म का भी अभाव होगा और धर्म तथा संघ के अभाव में बुद्ध का भी अभाव होगा। २४, ३०.

तब पापपुण्य की व्यवस्था भी असिद्ध होगी क्योंकि नित्य अशून्य पदार्थ को क्या लेना देना, उसके लिये क्या कर्म और क्या अकर्म? नित्य अशून्य में परि-

वर्तन भी नहीं हो सकता क्योंकि स्वतन्त्र सत्ता में कोई विक्रिया नहीं हो सकती। २४, २३.

अतः संसार को प्रतीत्यसमुत्पन्न न मान कर नित्य अशून्य मानने पर सम्पूर्ण लोकव्यवहार का समूल उच्छेद होता है। २४, ३६.

क्योंकि फिर संसार अजात, अनिरुद्ध, कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी और प्रपञ्च-रहित सिद्ध होता है। २४, ३८.

अतः जो प्रतीत्यसमुत्पादरूप शून्यता को समझता है वही दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग नामक चार आर्यसत्यों को जानता है। २४, ४०.

निर्वाणपरीक्षा—यदि संसार शून्य (असत्) हो, तो न उत्पत्ति है और न विनाश। फिर किसके विनाश से किसका निर्वाण होगा ? यदि संसार अशून्य (सत्) हो, तो भी न उत्पत्ति है और न विनाश। फिर किसके विनाश से किसका निर्वाण होगा ? अतः संसार को सदसद्विलक्षण और प्रतीत्यसमुत्पन्न मानना ही ठीक है। प्राप्ति और हानि, उत्पत्ति और विनाश, बन्धन और मोक्ष आदि द्वन्द्व-रहित ज्ञान का नाम ही निर्वाण है। २५, १–३.

निर्वाण चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। वह न भाव है, न अभाव, न भावाभाव और न भावाभावविलक्षण। यदि निर्वाण को भाव माना जाय तो अन्य सांसारिक पदार्थों की तरह उसकी भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी, और तब निर्वाण भी अन्य संस्कृत धर्मों के समान हो जायगा। और यदि निर्वाण को अभाव माना जाय तो उसकी प्राप्ति कैसी ? और यदि निर्वाण भाव नहीं है, तो अभाव कैसे होगा ? भगवान् ने भाव और अभाव दोनों का निषेध किया है, अतः निर्वाण को न भाव मानना चाहिये और न अभाव। निर्वाण भावाभाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि भाव और अभाव, प्रकाश और अन्धकार के समान, परस्पर विरुद्ध होने से एक साथ नहीं रह सकते। और यदि निर्वाण को भावाभावविलक्षण माना जाय तो सांसारिक पदार्थों के समान वह भी मिथ्या हो जायगा और तब निर्वाण की कल्पना ही असंगत हो जायगी। २५; ५, ७, १०, १४, १६.

वास्तव में संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं। व्यावहारिक हेतु-प्रत्यय-सापेक्षता की दृष्टि से जो संसाररूप से प्रतीत हो रहा है वही पारमार्थिक निरपेक्षता की दृष्टि से निर्वाण है। २५, ९.

संसार का निर्वाण से ज़रा भी भेद नहीं; निर्वाण का संसार से ज़रा भी भेद नहीं। २५, १९.

संसार और निर्वाण में किंचिन्मात्र सुसूक्ष्म भी अन्तर नहीं है। २५, २०.

तत्व सविकल्प बुद्धि की सारी कोटियों से ऊपर है; समस्त प्रपञ्च का अद्वय तत्व में उपशम हो जाता है; तत्व परम शिव है; इस तत्व का भगवान् बुद्ध ने कभी भी, कहीं भी, किसी को भी, कोई भी उपदेश नहीं दिया क्योंकि यह साक्षात्कार का विषय है, वाणी और बुद्धि द्वारा गम्य नहीं। २५, २४.

द्वादशाङ्गपरीक्षा—दुःखमय प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र के द्वादश अंगों में अविद्वान् फँसता है, विद्वान् नहीं। अविद्वान् ही, अविद्या के कारण, संसार के मूल संस्कारों में, स्वयं को कर्ता, भोक्ता समझ कर फँस जाता है। तत्वदर्शन हो जाने के कारण विद्वान् इनसे अस्पृष्ट रहता है। २६, १०.

अविद्या के निरोध से ही संस्कारों का निरोध होता है और अविद्या का निरोध होता है तत्वज्ञान से। २६, ११.

दृष्टि परीक्षा—शून्यता के साक्षात्कार से शाश्वत और अशाश्वत, अनन्त और अन्तवान् आदि दृष्टियाँ स्वयमेव विलीन हो जाती हैं। तत्वज्ञानी को ये दृष्टियाँ क्यों, कहाँ, कब और किसलिये होने लगीं? २७, २९.

हम उन भगवान् गौतम बुद्ध को नमस्कार करते हैं जिन्होंने कृपा करके, व्यवहार दशा में उतर कर, समस्त दृष्टियों के ऊपर उठने के लिये सद्धर्म का उपदेश दिया। २७, ३०.

(२)

विग्रहव्यावर्त्तनी

पूर्वपक्ष—जगत् के सम्पूर्ण धर्मों को असत् कहने वाली शून्यता स्वयं असत् है; और यदि कम से कम शून्यता सत् है, तो शून्यवाद का स्वतः निराकरण हो जाता है। यदि धर्म निःस्वभाव है, तो उनका कोई नाम भी नहीं होना चाहिये क्योंकि बिना वस्तु के नाम भी नहीं होता। 'सब कुछ शून्य है'—यदि यह सत्य है तो अपने ही कथन के अनुसार यह वचन भी असत्य है; और यदि यह असत्य है तो शून्यवाद असत्य है। सत् का ही प्रतिषेध संभव है; असत् का नहीं। शून्य का कोई प्रमाण नहीं। १–११.

उत्तरपक्ष—जगत् के सम्पूर्ण धर्मों को मिथ्या कहने वाली शून्यता सत्य है, क्योंकि वाणी और बुद्धि का मिथ्यात्व शून्यता को मिथ्या नहीं कर सकता। शून्यता का अर्थ नितान्त असत् नहीं है, अपि तु प्रतीत्यसमुत्पाद है। अतः हमारी वादहानि नहीं है। २१-२४.

यदि हम कहते कि 'हमारा वचन तो अशून्य है और शेष सब शून्य है, तो विषमता होती और प्रतिपक्षी के आक्षेप सत्य होते। हम तो वाणी और बुद्धि के सब धर्मों को मिथ्या कहते हैं, किन्तु व्यवहार दशा में इनकी सत्यता हमें अस्वीकृत नहीं है। विना व्यवहार के परमार्थ का उपदेश नहीं हो सकता। २८.

यदि हम किसी वस्तु की विधिरूप से सिद्धि करने के लिये कोई प्रतिज्ञा करते, तो हमारे तर्क में दोष आना संभव हो सकता था; किन्तु हमने तो केवल प्रतिपक्षी की सारी प्रतिज्ञाओं का खण्डन करने के लिये ही कमर बाँधी है, अतः हमारी अपनी कोई प्रतिज्ञा न होने से हमारे तर्क में कोई दोष नहीं आ सकता। २९.

यदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा किसी पदार्थ की उपलब्धि संभव हो, तो उसका विधि या निषेध रूप से निर्वचन करना उचित होगा; किन्तु जब किसी पदार्थ की उपलब्धि ही संभव नहीं तो विधि-निषेध कैसे? और जब विधि-निषेध संभव नहीं तो दोष आने का क्या काम? ३०.

यदि प्रतिपक्षी पदार्थों की सिद्धि प्रमाणों द्वारा मानता है, तो पहले वह यह बतलाये कि प्रमाणों की सिद्धि कैसे होगी? ३१.

यदि एक प्रमाण की सिद्धि अन्य प्रमाण द्वारा हो तो अनवस्था दोष आता है, और प्रमाणों की सिद्धि के बिना प्रतिपक्षी का वाद नष्ट होता है। ३२-३३.

प्रमाण स्वतः सिद्ध भी नहीं हैं। स्वतः और परतः सिद्ध मानने में विरोध है। अहेतुक सिद्धि संभव नहीं। और न प्रमाण की सिद्धि प्रमेय द्वारा की जा सकती क्योंकि प्रमेय स्वयं अपनी सिद्धि के लिये प्रमाण पर निर्भर है। अतः यह प्रमाण-प्रमेय व्यवहार लौकिक है, पारमार्थिक नहीं। ५२.

यदि पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता हो तो वे अप्रतीत्यसमुत्पन्न होंगे और नित्य होने से उनका परिणाम नहीं होगा और लोकव्यवहार नहीं चल सकेगा। अतः उन्हें सापेक्ष और प्रतीत्यसमुत्पन्न ही मानना चाहिये। प्रतीत्यसमुत्पाद का नाम ही शून्यता है। ६७.

अन्यथा पदार्थों के नित्य होने से धर्म, अधर्म आदि सब लोकव्यवहार नष्ट हो जायगें। ५६.

प्रतिपक्षी शून्य को असत् मान कर उसका प्रतिषेध कर रहा है। अतः उसका यह कथन कि सत् का ही प्रतिषेध सभव है झूठ है। ६३.

शून्यवादी विधि–निषेध, मण्डन–खण्डन आदि से ऊपर है। वह अपनी दृष्टि से किसी का प्रतिषेध नहीं करता और इस दृष्टि से कोई वस्तु प्रतिषेध्य है भी नहीं, और न उसके कोई अपनी दृष्टि ही है। अतः यह आक्षेप कि—'शून्यवादी समस्त पदार्थों का प्रतिषेध करता है', परकीय रीति से ही संभव है। यह केवल प्रतिपक्षी का आक्षेप है। ६४.

जिसने शून्यता को जान लिया उसके लिये समस्त व्यावहारिक पदार्थों की सांवृतिक सत्ता सिद्ध है और उसका लक्ष्य परमार्थ है—अतः उसके लिये सब अर्थ सिद्ध हैं। किन्तु जिसने शून्यता को नहीं जाना उसके लिये परमार्थ तो नष्ट है ही, व्यवहार तक सिद्ध नहीं हो सकता। ७१.

हम उन सम्यक् सम्बुद्ध अद्वितीय भगवान् बुद्ध को प्रणाम करते हैं जिन्होंने संवृति और परमार्थ का विभाग बतलाने वाली शून्यता का उपदेश दिया जिसे प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमा प्रतिपत् भी कहते हैं। ७२.

(२)

रत्नावली

प्रथम परिच्छेद—मन, वाणी और कर्म द्वारा सारे अशुभ कर्मों से निवृत्ति और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति—ये दो रूप सद्धर्म के हैं। २२.

अहंकार और ममकार का विनाश—यह विचार कि न मैं हूँ न होऊँगा, न मेरा कुछ है न होवेगा, मूर्ख के लिये भयकारक और पण्डित के लिये भयनाशक होता है। २६.

हीनयानी निर्वाण को दुःखाभाव मात्र मान कर यह स्वीकार करने को सहर्ष तैयार हैं कि निर्वाण में यह सब कुछ नहीं रहेगा, किन्तु जब हम कहते है कि यहाँ ही और अभी ही वह ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त कर लेते कि यह सब कुछ नहीं है, तो यह उन्हें भयंकर लगता है! ४०.

वास्तव में निर्वाण न भाव है न अभाव। भाव, अभाव आदि बुद्धिकोटियों का क्षय ही निर्वाण है। ४२.

जब भाव और अभाव, अस्ति और नास्ति आदि प्रपञ्च शान्त हो जाते हैं, तब पुण्य और पाप, सुगति और दुर्गति आदि विकल्पों का भी क्षय हो जाता है। इसी अविद्यानिवृत्ति को बुद्धिमान् मोक्ष कहते हैं। ४५.

नास्तिक के लिये दुर्गति है और आस्तिक के लिये सुगति; किन्तु मोक्ष केवल अद्वयवादी के लिये ही है जो यथार्थ ज्ञान द्वारा अविद्या को नष्ट कर चुका है। ५७.

बोधि प्राप्त होने पर न तो तर्क-शास्त्र के प्रतिज्ञा और हेतु रहते हैं, न आचार शास्त्र के पाप और पुण्य और न दर्शन शास्त्र के ज्ञाता और ज्ञेय। शून्यवादी 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों को पार कर जाते हैं। फिर उन्हें नास्तिक कैसे कहा जा सकता है? ६०.

सांख्य, वैशेषिक, जैन और पुद्गलस्कन्धवादी हीनयान के अनुयायियों से पूछिये कि क्या वे इस संसार को सदसद्विलक्षण मानते हैं? संसार सदसद्विलक्षण, सापेक्ष और स्वभावशून्य मानना तो शून्यवादियों को ही धर्म के दहेज में मिला है। यही भगवान् बुद्ध का गम्भीर उपदेशामृत है। ६१-६२.

द्वितीय परिच्छेद—पक्ष होने पर प्रतिपक्ष होता है। वास्तव में न पक्ष है न प्रतिपक्ष। यह संसार सत्य और असत्य दोनों से विलक्षण है—जब तक इसकी प्रतीति है तब तक सत्य है और तत्वसाक्षात्कार होने पर असत्य है। ५

धर्म से कीर्ति और सुख मिलता है। न यहाँ भय रहता है न वहाँ। परलोक में निष्कलङ्क सुख मिलता है। अतः सदा धर्म की शरण लेना चाहिये। २७.

चतुर्थ परिच्छेद—जैसे एक महान् वैयाकरण बच्चों को मात्रा लगाना भी सिखाता है, वैसे ही भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को उन लोगों की क्षमता के अनुसार उपदेश दिया कुछ लोगों को पापनिवृत्ति का उपदेश दिया, कुछ को पुण्य-प्राप्ति का और कुछ लोगों को दोनों का। उत्कृष्ट शून्यवादियों को उन्होंने अपना वास्तविक उपदेश दिया जो भीरु पुरुषों के लिये भयङ्कर है, अत्यन्त गम्भीर है, सविकल्प बुद्धि के समस्त द्वैत प्रपञ्च से अस्पृष्ट है, बोधि का साक्षात्कार कराने वाला है और करुणामयी शून्यता से ओतप्रोत है। ९४-९६.

आर्यदेव

(१)

चतुःशतक

धनी पुरुषों को प्रायः मानसिक दुःख और निर्धनों को प्रायः शारीरक दुःख होता है। दोनों प्रकार के दुःखों से यह संसार प्रतिदिन पीड़ित हो रहा है। ३२.

जैसे जैसे समय व्यतीत होता है, वैसे वैसे ही दुःख भी बढ़ता जाता है। इस शरीर से तो सुख सदा दूर सा ही दिखाई देता है। ३५.

जैसे कोई नकटा नक़ली नाक लगा कर प्रसन्न हो जाय वैसे ही इस अपवित्र और दुर्गन्ध युक्त शरीर को लोग पुष्पों और इत्रों से सजाते हैं। ७३.

लोग बड़े यत्न से सुख के लिये कर्म करते हैं और क्षण भर में ही बिना यत्न के ही सब किये हुये पर पानी फिर जाता है। आश्चर्य है कि ऐसा होने पर भी लोगों को वैराग्य नहीं होता। १६२.

अल्पपुण्य सांसारिक प्राणियों को संसार के पदार्थों के अस्तित्व के विषय में सन्देह तक नहीं होता! यह संसार तो सन्देह मात्र से जर्जर हो सकता है। १८०.

लोक व्यवहार में प्रवृत्ति मार्ग का और परमार्थ में निवृत्ति मार्ग का वर्णन है। १८३.

भगवान् बुद्ध की कोई चेष्टा अकारण नहीं होती। उनके निःश्वास मात्र से लोककल्याण होता रहता है। १०१.

भगवान् ने साधारण लोगों को पापनिवृत्ति और पुण्यप्राप्ति के लिये पुद्गल के अस्तित्व का उपदेश दिया। मध्यम श्रेणी के विनेयों को अहङ्कार-ममकार के परित्याग के लिये पुद्गलनैरात्म्यवाद का उपदेश दिया। उत्तम शिष्यों को उन्होंने धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्यरूपी शून्यता का उपदेश दिया। अतः पहले पाप का निराकरण, फिर अहङ्कार का निराकरण और बाद में समस्त सांसारिक पदार्थों का निराकरण समझना चाहिये। १९०.

शून्यता की उपलब्धि बहुत कठिन है। शून्यता की चर्चा प्रत्येक के सामने नहीं करना चाहिये क्योंकि अस्थान में प्रयुक्त औषध भी विष हो जाती है। १९२.

परमार्थ अनिर्वचनीय है; बिना व्यवहार दशा में उतरे उसका उपदेश सम्भव नहीं। जैसे किसी म्लेच्छ को समझाने के लिये उसकी भाषा का आश्रय लेना पड़ता है वैसे ही परमार्थ के उपदेश के लिये लोकव्यवहार का आश्रय लेना पड़ता है। १९४.

जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, उस अव्यक्त को कौन देख सकता है? २१७.

यदि जीव नित्य हो तो उसका बन्धन नहीं हो सकता और बिना बन्धन के मोक्ष कैसा? २४४.

सांसारिक पदार्थ उत्पन्न होते प्रतीत होते हैं अतः उनका अभाव नहीं माना जा सकता, और उनका विनाश भी प्रतीत होता है अतः उनका भाव भी नहीं माना जा सकता। २५०.

दर्शन-भ्रष्ट होने की अपेक्षा चारित्र-भ्रष्ट होना भी अच्छा है क्योंकि चरित्र से केवल स्वर्ग मिलता है और दर्शन से मोक्ष। २८६.

नैरात्म्यवाद का अर्थ 'असत्' मानने की अपेक्षा अहंकार की कल्पना से 'सत्' मानना अच्छा है क्योंकि अहंकारी को तो दुर्गति ही मिलती है, किन्तु 'असत्'-वादी को कभी शिवतत्व मिल ही नहीं सकता। २८७.

वास्तव में नैरात्म्य का अर्थ स्वभावशून्यता है। संसार को स्वभावशून्य जान लेने पर प्रपञ्चशून्य शिव तत्व की ओर ध्यान जाता है। नैरात्म्यवाद अद्वितीय, कल्याणमार्ग, कुदृष्टियों के लिये भयङ्कर और बुद्धों के साक्षात्कार का विषय है। २८८.

सद्धर्म के नाम से ही 'असत्' काँप उठता है; बलवान् व्यक्ति अपने शत्रु के लिये भयङ्कर होता ही है। २८९.

यद्यपि तथागत ने सद्धर्म का उपदेश वादविवाद में पड़ने के लिये नहीं दिया, तथापि यह सद्धर्म स्वभाव से ही प्रतिपक्षियों के वादविवाद को भस्म कर देता है जैसे अग्नि स्वभाव से ही ईंधन को जला देती है। २९०.

धर्म का ग्रहण बौद्ध चित्त से, जैन आँख से और ब्राह्मण कान (श्रुति) से करते हैं; स्पष्ट है कि बौद्धधर्म ही अत्यन्त सूक्ष्म है। २९४.

संसार अलातचक्र, स्वप्न, माया, जल में चन्द्र-प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि और मृगतृष्णा के समान मिथ्या और धुँए तथा बादलों के समान अस्थिर है। ३२५.

समस्त सांसारिक पदार्थ अविद्यास्पृष्ट एवं कलुषित हैं; परमतत्व अविद्या से अस्पृष्ट तथा आदिविशुद्ध है। इन दोनों का वास्तविक योग असंभव है। फिर भी तत्व ही, अविद्या के कारण, संसार के रूप में भासित होता है, किन्तु रूपादि स्कन्धों को तत्व का वास्तविक परिणाम मानना सर्वथा अनुचित है। ३३३.

जो प्रतीत्यसमुत्पन्न है उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती, अतः यह सारा संसार स्पष्ट ही स्वभावशून्य है क्योंकि इसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। ३४८.

वास्तव में अजातिवाद है। किसी भी पदार्थ की वास्तविक उत्पत्ति संभव नहीं है। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश न तो एक साथ हो सकते हैं और न क्रमशः। तब उनकी सत्ता कैसे मान्य हो? ३६१.

कोई भी पदार्थ न स्वतः, न परतः, न उभयतः और न अहेतुतः उत्पन्न हो सकता है। भाव भाव से उत्पन्न नहीं होता और न अभाव से ही उत्पन्न हो सकता है। अभाव अभाव से उत्पन्न नहीं होता और न भाव से ही उत्पन्न हो सकता है। ३६४

कारण के बिना कार्योत्पाद नहीं हो सकता, अतः कार्य-कारण भाव सापेक्षता-वाद है। इसीलिये प्रवृत्ति और निवृत्ति, उत्पाद और विनाश आदि वास्तविक नहीं माने जा सकते। ३७५.

जो बुद्धि की चारों कोटियों के ऊपर उठ गया है, जिसके लिये न 'सत्' है, न 'असत्' न 'सदसत्' और न 'सदसद्भिन्न', उसको चिरकाल तक भी उपालम्भ नहीं दिया जा सकता। ४००.

(२)

चित्तविशुद्धिप्रकरण

जैसे एक स्वच्छ शुभ्र संगमरमर समीपस्थ जपाकुसुम आदि के कारण रक्त प्रतीत होता है, वैसे ही स्वच्छ चित्तरत्न अविद्या के राग से रञ्जित प्रतीत होता है। २७.

वास्तव में चित्तरत्न स्वभाव से ही अविद्याराग से निर्लिप्त है क्योंकि वह आदिविशुद्ध, कूटस्थ, स्वरूपस्थ और निष्कलंक है। २८.

जैसे कान के भीतर गये हुये जल को थोड़ा सा जल और डाल कर निकाल लेते हैं, अथवा जैसे काँटे से काँटा निकाल लेते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति राग से ही राग को दूर कर देते हैं। ३७.

जैसे धोबी वस्त्र को नील लगाकर स्वच्छ कर देता है, वैसे ही बुद्धिमान् व्यक्ति आत्मा को मल द्वारा ही निर्मल बना लेता है। ३८.

यदि जल में लोहे का पिण्ड फेंका जाय तो डूब जायगा, किन्तु उसीको गोला बना कर काम में लिया जाय तो वह स्वयं भी तैर जायगा और सहारा लेने वाले व्यक्ति को भी तार देगा। ४०.

यदि विष को भी वैद्यकशास्त्र के अनुसार अल्प मात्रा में साधधानी से खाया जाय तो वह अमृत का काम देता है और यदि घृत तथा मिठाइयाँ भी अधिक मात्रा में असावधानी से खाई जाँय तो मूर्खों के लिये वही विष बन जाती हैं। ४५.

शुभ हेतुओं से अविद्यानिवृत्ति हो जाने पर चित्तरत्न निर्विकल्प, निरालम्ब, निरपेक्ष और स्वभावशुद्ध चमकता है। ४६.

संसार के बन्धन अहंकार और ममकार से होते हैं और अहंकार-ममकार अविद्या से होते हैं और यह अविद्या भ्रान्तिरूप है। ६६.

शुक्ति का ज्ञान होने पर जैसे शुक्ति-रजत की निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही नैरात्म्यदर्शन होने पर अविद्या-निवृत्ति हो जाती है। ६७.

यह चित्त-चिन्तामणि अविद्या के कीचड़ में सना हुआ प्रतीत होता है; विद्वान् को इस अविद्या-कर्दम को धो देना चाहिये, न कि इसे बढ़ाना। ७४.

प्रज्ञा का साक्षात्कार कर लेने पर भी निर्लिप्त होकर लोककल्याणार्थ कर्म करने चाहिये, जैसे कीचड़ में उगा हुआ कमल कीचड़ में लिप्त नहीं होता। ११५.

निर्मल प्रज्ञा द्वारा अविद्या जाल को काट फेंकने पर यहीं इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। ८५.

चन्द्रकीर्ति

प्रसन्नपदा माध्यमिकवृत्ति

बुद्धि के 'अस्ति' 'नास्ति' आदि समस्त द्वन्द्वों को छोड़ देने वाले, सम्बोधि-सागर में जन्म लेने वाले, भगवान् बुद्ध के उपदेश के अनुसार सद्धर्म की गंभीरता को कृपया बतलाने वाले, अपने अद्वितीय ज्ञान के तर्कशरों द्वारा समस्त संसार की जन्म-मृत्युरूपी शत्रुसेना को परास्त करके अपने देव और मनुष्य शिष्यों को तीनों लोकों की लक्ष्मी प्रदान करने वाले आचार्य नागार्जुन को साष्टाङ्ग प्रणाम करके मैं (चन्द्रकीर्ति) उनकी माध्यमिककारिका पर सत्प्रक्रिया और सन्न्याय से सुशोभित, प्रसादगुणयुक्त तथा (भावविवेक निर्मित 'तर्कज्वाला' नामक माध्यमिकवृत्ति से श्रेष्ठ) कुतर्क की अग्नि से अव्याकुल 'प्रसन्नपदा' नामक वृत्ति लिखता हूँ। जो समस्त क्लेश रूपी शत्रुओं पर शासन करे और सन्मार्ग का उपदेश देकर दुर्गति तथा जन्म-मरण चक्र से रक्षा करे उसीको, शासन और त्राण के कारण, वास्तव में शास्त्र कहना चाहिये। अन्य मतों में ऐसा शास्त्र नहीं है।

आचार्य नागार्जुन के माध्यमिक शास्त्र का अभिधेयार्थ है प्रतीत्यसमुत्पाद। यह प्रतीत्यसमुत्पाद—अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागम और अनिर्गम इन आठ निषेधात्मक विशेषणों से विशिष्ट है। सर्वप्रपञ्चोपशम शिव निर्वाण इस शास्त्र का प्रयोजन है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है सापेक्ष-कारणतावाद। 'प्रतीत्य' (प्रति + इ + ल्यप्) शब्द का अर्थ है—'इसको पाकर', 'इसके होने पर', 'इसकी अपेक्षा रख कर' और 'समुत्पाद' शब्द का अर्थ है उत्पत्ति, प्रादुर्भाव। अतः 'प्रतीत्यसमुत्पाद' शब्द का अर्थ हुआ—'इसके होने पर इसकी उत्पत्ति' अर्थात् 'कारण की अपेक्षा रख कर कार्य का प्रादुर्भाव।' इसका धर्म-संकेत है—'इसके होने पर यह होता है' जैसे ह्रस्व के होने पर दीर्घ होता है।

हीनयान के अनुयायी कहते हैं कि 'इति' का अर्थ है गमन या विनाश। जिनका विनाश होता है, जो विनाशशील हैं, वे हुये 'इत्य'। 'प्रति' शब्द पुनरुक्ति-सूचक है जिसका अर्थ है बार बार। इस प्रकार तद्धितान्त 'इत्य' शब्द को सिद्ध करके 'प्रतीत्यसमुत्पाद' शब्द का अर्थ करते हैं—'बार बार विनाश-शील वस्तुओं की उत्पत्ति' अर्थात् 'क्षणिक पदार्थों का निरन्तर प्रवाह', जिसे संक्षेप में 'क्षण-सन्तति' कहते हैं। उनके मत में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का अर्थ है 'क्षणिकवाद'। किन्तु यह मत ठीक नहीं है।

यद्यपि जो पदार्थ सापेक्ष हैं, वे क्षणिक हैं ही, तथापि प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ क्षणिकवाद करने की अपेक्षा सापेक्षकारणतावाद करना ही उचित है क्योंकि भगवान् का आग्रह इसी पर है और सापेक्षकारणतावाद में क्षणिकवाद का स्वतः समावेश हो जाता है। सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से ही होती है—यह भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है। इसलिये अहेतुवाद, एकहेतुवाद और विषमहेतुवाद निरस्त हो जाते हैं, क्योंकि पदार्थ न तो बिना कारण उत्पन्न हो सकते हैं, न स्वयं उत्पन्न हो सकते हैं, न परतः उत्पन्न हो सकते हैं और न स्वतः और परतः उत्पन्न हो सकते हैं। अतः जितने भी संस्कृत (उत्पन्न) पदार्थ हैं वे सब सांवृत हैं, वे संवृति या व्यवहार में ही सिद्ध होते हैं, वस्तुतः नहीं। जो सापेक्षतया उत्पन्न हैं, वे वस्तुतः उत्पन्न नहीं कहे जा सकते। अतः उनकी सत्ता सांवृत या व्यावहारिक है, वास्तविक नहीं। यह प्रतीत्यसमुत्पाद का सांवृत रूप है। जो प्रतीत्यसमुत्पन्न है, वह वस्तुतः अनुत्पन्न है। उसकी उत्पत्ति केवल व्यावहारिक

है। उसका अपना कोई 'स्वभाव' या 'स्वतन्त्र अस्तित्व' नहीं है। आर्यज्ञान या परमार्थ की दृष्टि से जब उत्पाद संभव नहीं, तो निरोध भी संभव नहीं, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति ही नहीं उसका विनाश कैसे होगा? अतः 'अनिरोध', 'अनुत्पाद' आदि आठ निषेधात्मक विशेषण आचार्य नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद के जोड़े हैं और वे इस सारे माध्यमिक शास्त्र में यह सिद्ध करेंगे कि निरोध और उत्पाद आदि कैसे असंभव हैं। अतः सांवृत प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है—भावों की 'स्वभाव-शून्यता' अर्थात् समस्त सांसारिक पदार्थों का स्वतन्त्र-सत्ता-रहित होना। किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद का केवल सांवृतरूप ही नहीं है, उसका पारमार्थिक रूप भी है। परमार्थ की दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद ही परम तत्व है। प्रतीत्यसमुत्पाद का यथार्थ दर्शन होने पर आर्यों के लिये अभिधेय और ज्ञेय रूप समस्त जगत्-प्रपञ्च का सर्वथा उपशम हो जाता है। अतः यही प्रतीत्यसमुत्पाद, पारमार्थिक दृष्टि से, प्रपञ्चोपशम तत्व कहा जाता है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की व्यावहारिक त्रिपुटी की निवृत्ति होने पर जन्म, जरा, मृत्यु आदि समस्त उपद्रव शान्त हो जाते हैं और परम कल्याण की प्राप्ति होती है। अतः वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पाद शिवरूप है। अतः पारमार्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है—शिव तत्व की 'प्रपञ्चशून्यता'!

प्रासंगिक माध्यमिक मत के आचार्य बुद्धपालित ने (अपनी माध्यमिक कारिका वृत्ति में) कहा है—'पदार्थ स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि जो 'स्वतः' है वह तो पहले ही 'उत्पन्न' है, और इसलिये उसकी पुनरुत्पत्ति व्यर्थ है। फिर इसमें अतिप्रसंग दोष भी है'। स्वतन्त्र माध्यमिक मत के आचार्य भावविवेक (अपनी 'तर्कज्वाला' नामक माध्यमिक कारिकावृत्ति में) इसमें दोष बताते हैं—'बुद्धपालित का मत ठीक नहीं है क्योंकि उन्होंने हेतु और दृष्टान्त का उल्लेख नहीं किया; उनके मत में सांख्य द्वारा आक्षिप्त दूषणों का परिहार नहीं होता; और उसमें अतिप्रसंग दोष भी है।' भावविवेक के इन आक्षेपों को हम (चन्द्रकीर्ति) अनुचित समझते हैं। भावविवेक का यह कथन कि बुद्धपालित को हेतु और दृष्टान्त देने चाहिये थे, अनुचित है। प्रतिपक्षी (सत्कार्यवादी) से, जो स्वतः उत्पत्ति मानता है, पूछा जाता है कि यदि कार्य कारण में पहले ही विद्यमान है तो फिर विद्यमान की पुनरुत्पत्ति का क्या प्रयोजन है? हम तो विद्यमान पदार्थ की पुनरुत्पत्ति को व्यर्थ समझते हैं और इसमें अनवस्था दोष भी मानते हैं। यदि प्रतिपक्षी के मत में विरोध सिद्ध कर देने पर भी वह न माने, तो हेतु और दृष्टान्त

देने पर भी वह अपनी निर्लज्जता के कारण नहीं मानेगा । और ऐसे पागल के साथ विवाद करना भी व्यर्थ है । अतः बुद्धपालित द्वारा हेतु और दृष्टान्त न देने को दूषण कहना भावविवेक की अनुमान-प्रियता को ही सिद्ध करता है, क्योंकि वे अनावश्यक रीति से अस्थान में भी अनुमान का प्रवेश करना चाहते हैं । माध्यमिक का अपना कोई पक्ष नहीं है, अतः उसके लिये अपनी ओर से स्वतन्त्र अनुमान करना उचित नहीं है । दूसरे, जो भावविवेक ने यह कहा कि बुद्धपालित सांख्य के आक्षेपों का उत्तर नहीं दे पाये, यह भी ठीक नहीं है । जब हमारा कोई 'हेतु' ही नहीं, तो सिद्धसाधन और विरुद्धार्थ दोष कहाँ से टपकेंगे ? और क्यों हम उनके परिहार के लिये यत्न करेंगे ? अतः बुद्धपालित को उनके परिहार करने की आवश्यकता नहीं थी । तीसरे, जो भावविवेक ने बुद्धपालित के मत में अतिप्रसंग दोष बतलाया, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि जब बुद्धपालित की अपनी कोई 'प्रतिज्ञा' ही नहीं, तो अतिप्रसंग दोष क्यों आने लगा ?

आचार्य नागार्जुन के मत का ठीक ठीक अनुसरण करने वाले आचार्य बुद्धपालित के वचनों में दोष आने ही क्यों लगे ? प्रतिपक्षी को उनमें दोष मिलने का कोई अवकाश नहीं । हमारे शब्द डंडे और पाश वाले राजपुरुष (पुलिस के सिपाही) नहीं हैं कि हमें बाँध लें । शब्दों का कार्य अपनी शक्ति से अर्थ को उपस्थित करना है, किन्तु इस कार्य में वे वक्ता की इच्छा का अनुकरण करते हैं । हम तो केवल प्रतिपक्षी की युक्तियों का खण्डन करते हैं । हमारे तर्क का एक मात्र कार्य प्रतिपक्षी की प्रतिज्ञा का प्रतिषेध करना है । इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम जिस मत का खण्डन करते हैं उससे विपरीत मत को हम स्वीकार करते हैं । हमारा अपना कोई मत नहीं; हमारी अपनी कोई प्रतिज्ञा नहीं । हमारा कार्य तो केवल प्रतिपक्षी के मत का खण्डन ही है । जो केवल अपने तर्कशास्त्र के पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिये माध्यमिक दर्शन स्वीकार करके अपने स्वतन्त्र मत का प्रतिपादन करता है, वह अपने अनेक दोष समूहों को ही प्रकट करता है । हम स्वतन्त्र अनुमान का स्वतन्त्र प्रयोग करने वालों के लिये ही ये दोष होते हैं । हम स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग नहीं करते । हमारे अनुमान का एक मात्र कार्य परपक्षों का प्रतिषेध करना है । हमारा अपना कोई पक्ष नहीं । अतः माध्यमिक के लिये स्वपक्ष-सिद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता । अनुमान का कार्य खण्डन करना है, मण्डन करना नहीं ।

परपक्षी का आक्षेप है कि यदि समस्त जगत्-प्रपञ्च मिथ्या है, तो फिर पाप कर्म नहीं हैं। पाप कर्मों के अभाव में दुर्गति भी नहीं है। पुण्य कर्म भी नहीं हैं। उनके अभाव में सुगति भी नहीं है। सुगति-दुर्गति के अभाव में संसार भी नहीं हैं। तब तो दुःख-निरोध और निर्वाण-प्राप्ति के लिये यह शास्त्रोपदेश और मार्ग-भावना आदि सब प्रयत्न व्यर्थ हो जायगें।

चन्द्रकीर्ति उत्तर देते हैं—हम, संवृति सत्य की अपेक्षा से, उन लोगों के मत का, जो इन सांसारिक पदार्थों को सत्य मानते हैं, खण्डन करने के लिये प्रतिपक्ष रूप में पदार्थों के मिथ्यात्व को उपस्थित करते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हमारे मत में पदार्थ अभावात्मक हैं। वास्तव में सांसारिक पदार्थ न भावरूप हैं, न अभावरूप। भावाभावविलक्षण होने के कारण ही उनको मिथ्या कहा जाता है। कृतकार्य आर्यजन इन पदार्थों को न 'सत्' मानते हैं और न 'असत्'। जब परमार्थतः कोई 'पदार्थ' ही नहीं उपलब्ध होता, तो उसके विषय में सत् या असत् की कल्पना कैसी ?आर्यों के लिये जिन्होंने समस्त सांसारिक धर्मों का मिथ्यात्व जान लिया है, न कर्म हैं और न संसार। किन्तु इनकी सांवृत सत्ता तो हमें भी मान्य है ही।

परपक्षी फिर प्रश्न करता है—यह संवृति क्या बला है ? जरा बतलाइये तो सही।

हम (चन्द्रकीर्ति) उत्तर देते हैं-'इदं प्रत्ययता' ही संवृति है। 'इदं प्रत्ययता' का अर्थ है 'प्रतीत्यसमुत्पाद' अर्थात् 'सापेक्षकारणतावाद'। बुद्धि की चारों कोटियों—अस्ति, नास्ति, उभय और अनुभय—में से किसी को भी मानने पर 'सस्वभाववाद' आ जाता है, क्योंकि बुद्धि की कोटियों में फँसने पर भावों के 'स्वभाव' के विषय में किसी न किसी मत का प्रतिपादन किया जाता है। किन्तु यह अनुचित है। 'इदं प्रत्ययता' के मानने पर 'सस्वभाववाद' नहीं टिकता, क्योंकि इदं प्रत्ययतावादी के लिये सभी धर्म सापेक्ष और सांवृत होने के कारण 'स्वभाव-शून्य' हैं, उनकी स्वाभाविक सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव कहा गया है—'तर्क की कोटियों में फँसे हुये प्राणी इस दुःखरूप संसार को या तो स्वतः या परतः या उभयतः या अहेतुतः उत्पन्न मानते हैं। हे भगवन् ! आप ही ऐसे हैं जो इसे प्रतीत्यसमुत्पन्न बतलाते हैं।' प्रतीत्यसमुत्पाद का धर्मसंकेत है—'इसके होनेपर

यह होता है' अर्थात् 'कारण की अपेक्षा से कार्य उत्पन्न होता है।' अविद्या होने पर संस्कार होते हैं, संस्कार होने पर विज्ञान होता है, और इस तरह यह द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पादचक्र चला करता है।

प्रतिपक्षी फिर आक्षेप करते हैं—'भाव अनुत्पन्न हैं' यह निश्चय आपको कैसे हुआ ? प्रमाण से या बिना प्रमाण के ही ? यदि प्रमाण से हुआ तो प्रमाणों की संख्या, लक्षण, विषय और उत्पत्ति (स्वतः, परतः, उभयतः या अहेतुतः) बतलायें। और यदि आपका निश्चय बिना प्रमाण के है, तो वह आपके ही कथनानुसार अप्रामाणिक हुआ। जैसे आपका यह निश्चय है कि भाव अनुत्पन्न हैं और मिथ्या हैं, वैसे ही हमारा भी यह निश्चय है कि भाव उत्पन्न हैं और सत्य हैं। और यदि आपका कोई निश्चय ही नहीं है, तो स्वयं अनिश्चित होकर आप दूसरों को क्या निश्चय करा सकेंगे ? तब आप व्यर्थ ही यह शास्त्र लिखने का कष्ट क्यों उठा रहे हैं ?

हम उत्तर देते हैं—यदि हमारा कोई निश्चय हो, तो यह पूछना उचित होगा कि वह प्रमाणजन्य है या अप्रमाणजन्य; किन्तु हमारा तो कोई निश्चय ही नहीं है। इससे यह न समझिये कि हम ऊट-पटाँग अनिश्चित बातें करते हैं। निश्चय और अनिश्चय दोनों सापेक्ष बुद्धि के खेल हैं और हम दोनों से ऊपर उठ गये हैं। अनिश्चय होने पर ही निश्चय संभव हो सकता है क्योंकि निश्चय अनिश्चय का प्रतिपक्ष है और उसकी अपेक्षा रखता है। जब हमारे कोई अनिश्चय ही नहीं है, तो निश्चय होने का प्रश्न ही कैसे उठेगा ? शशशृंग की ह्रस्वता या दीर्घता का प्रश्न कोई नहीं उठाता ? जब हम केवल प्रतिपक्ष के खण्डन के लिये ही तर्क का सहारा लेते हैं, और हमारा अपना कोई मत नहीं है (क्योंकि सभी मत सापेक्ष बुद्धिजन्य होने से मिथ्या हैं), तो हम क्यों और किस की सिद्धि के लिये प्रमाणों की कल्पना करें ? और क्यों हम प्रमाणों की संख्या, लक्षण, विषय और उत्पत्ति बताने के पचड़े में पड़ें ?

प्रतिपक्षी फिर दोष बताता है—यदि आपका कोई निश्चय ही नहीं है, तो आपके आचार्य नागार्जुन का वह निश्चितरूप वाक्य कैसे उपलब्ध होता है कि—'कोई भी भाव कभी भी और कहीं भी न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं, न परतः, न उभयतः और न अहेतुतः।' ?

हमारा उत्तर है—लोक दृष्टि से ही यह वाक्य निश्चित कहा जाता है, आर्यों की दृष्टि से नहीं।

प्रतिपक्षी कहता है—तो क्या आर्यों को किसी प्रकार की उपपत्ति नहीं होती ?

हम उत्तर देते हैं—यह कौन कहता है कि आर्यों को उपपत्ति होती है अथवा नहीं होती ? आर्यों का परमार्थ तो मौन है । वहाँ पर तर्क-प्रपञ्च कैसे संभव हो सकता है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि आर्यों को उपपत्ति होती है या नहीं ?

परपक्षी कहता है—यदि आर्यों को उपपत्ति नहीं होती तो वे लोक को परमार्थ का उपदेश क्यों और कैसे दे सकेंगे ?

हम कहते हैं कि आर्यजन उपपत्ति के चक्कर में नहीं पड़ते । वे तो लोक द्वारा मान्य जो प्रसिद्ध उपपत्ति है उसी के द्वारा, लोक को बोध कराने के लिये, व्यवहार दशा में उतर कर, लोकोपदेश का काम चला लेते हैं ।

(स्वतन्त्र विज्ञानवादी दिङ्नाग कहते हैं कि) लौकिक प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार को कुतार्किक नैयायिकों ने विपरीत लक्षण करके नष्ट भ्रष्ट कर दिया है, अतः हम प्रमाणादि का ठीक ठीक लक्षण और विवेचन करते हैं । किन्तु हम (चन्द्रकीर्ति) कहते हैं कि आपका ऐसा कहना अनुचित है । यदि कुतार्किकों ने विपरीत लक्षण किये हैं तो इस कारण लोक को लक्ष्यभ्रष्ट होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः आप लोगों का (दिङ्नाग आदि बौद्ध नैयायिकों का) यह प्रयत्न व्यर्थ है ।

वस्तुतः तो न लक्ष्य है और न लक्षण । आचार्यों ने लक्ष्य और लक्षण को अन्योन्यापेक्ष बतला कर इनकी सिद्धि की है । संवृति दशा में ही प्रमाणप्रमेय व्यवहार की सिद्धि है । यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा । अन्यथा संवृति और परमार्थ में कोई अन्तर नहीं रह जायगा । फिर संवृति को ही तत्व मानना पड़ेगा । आप लोग सामान्यलक्षण को तो सांवृत और स्वलक्षण को पारमार्थिक मानते हैं । किन्तु सामान्यलक्षण और स्वलक्षण दोनों ही सापेक्ष होने के कारण सांवृत हैं । एक को सांवृत और दूसरे को पारमार्थिक कहने पर यद्यपि आप ऊपरी तौर पर संवृति-परमार्थ विभाग को मान रहे हैं, किन्तु वास्तव में आप संवृति और परमार्थ के विभाग को समूल नष्ट कर रहे हैं, क्योंकि सांवृत पदार्थों को पारमार्थिक मानने

पर संवृति और परमार्थ का कोई भेद ही नहीं रहता। हम सारे प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को सांवृत मान कर संवृति सत्य की प्रतिष्ठा करते हैं। हम वृद्ध पुरुष के समान, लोकाचार से भ्रष्ट होने वाले आपके मत का ही निराकरण कर रहे हैं, संवृति का नहीं। यद्यपि संवृति अविद्या पर आश्रित है और मिथ्याज्ञान के कारण ही संवृति की सत्ता सिद्ध होती है, तथापि जब तक तत्व-साक्षात्कार नहीं होता तब तक संवृति की सत्ता मान्य है। तब तक संवृति मुमुक्षुओं को मोक्षोपयोगी कुशल कर्मों की प्रेरणा भी देती है। अतः लौकिक व्यवहार में लक्ष्य और लक्षण दोनों सिद्ध हैं, किन्तु परमार्थ में न लक्ष्य है और न लक्षण और इनके अभाव में प्रमाण भी असिद्ध हुये। अतः यही मानना उचित है कि लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों से अर्थाधिगम की व्यवस्था होती है। प्रमाण और प्रमेय दोनों सापेक्ष हैं। प्रमाणों के होने पर प्रमेय अर्थ सिद्ध होते हैं और प्रमेय अर्थों के होने पर प्रमाण। भगवान् बुद्ध ने भी लौकिक व्यवहार में उतर कर ही धर्मोपदेश दिया है।

समस्त जगत्-प्रपञ्च सांवृत है क्योंकि सापेक्ष या प्रतीत्यसमुत्पन्न है। इसकी कोई वास्तविक उत्पत्ति नहीं है। परमार्थतः अजातिवाद है। पदार्थ न स्वतः उत्पन्न होते हैं, न परतः, न उभयतः, न अहेतुतः। पदार्थ स्वतः उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि जो 'स्वतः' है, वह तो 'विद्यमान' है, फिर उसकी पुनरुत्पत्ति व्यर्थ है। और इसमें अनवस्था दोष भी है, क्योंकि यदि विद्यमान की भी उत्पत्ति होने लगे तो फिर इन उत्पत्तियों का कोई अन्त नहीं। पदार्थ परतः भी उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा होने पर प्रत्येक पदार्थ किसी भी पदार्थ से उत्पन्न हो सकेगा। और जब 'स्वतः' ही नहीं, तो 'परतः' कहाँ से आयगा ? पदार्थ उभयतः भी उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि फिर दोनों मतों के दोष इस मत में आ जावेंगे। और 'स्वतः' तथा 'परतः' दोनों का किसी पदार्थ को उत्पन्न करने के लिये मिलना भी असम्भव है। पदार्थ अहेतुतः भी उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि फिर कार्य-कारण-भाव ही नहीं रह जायगा। और फिर आकाश-कमल की सुगन्ध का प्रसङ्ग भी आयगा।

भगवान् बुद्ध ने जीव और जगत् की सत्ता का उपदेश लौकिक व्यवहार की दृष्टि से, साधकों का उत्साह बढ़ाने के लिये दिया है। वास्तव में तो संसार ही नहीं है। जब इसकी वास्तविक उत्पत्ति नहीं, तो वास्तविक निरोध भी नहीं हो

सकता, जैसे प्रदीपावस्था में रज्जुसर्प का क्षय नहीं होता। जब तक अज्ञान है तब तक रज्जुसर्प है। जब ज्ञान हो गया तब रज्जुसर्प भी नहीं। इसी प्रकार रज्जुसर्प के समान इस संसार का भी न वास्तविक उत्पाद है और न वास्तविक निरोध। बन्धन और मोक्ष दोनों अविद्या के कार्य हैं।

बुद्धि की सारी कोटियों का, तर्क के सारे प्रश्नों का, सविकल्प प्रपञ्च का, समस्त दृष्टियों का अतिक्रमण करना, उनके पंजे से छूटना ही शून्यता है। जो इस शून्यता में 'भाव' की कल्पना करते हैं, वे लोग असाध्य हैं। यदि कोई दूकानदार किसी ग्राहक से कहे कि—'मैं तुम्हें कुछ नहीं दूँगा' और वह मूर्ख ग्राहक उस दूकानदार से कहे कि—'तुम मुझे वह '**कुछ नहीं**' ही दे दो', तो उसे कैसे समझाया जाय ?

किन्तु जैसे शून्यता को 'भाव' समझना मूर्खता है, वैसे ही शून्यता को 'अभाव' समझना उससे भी बड़ी मूर्खता है। हम लोग नास्तिक नहीं हैं। हम तो 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों वादों का निरास करके निर्वाण-नगर की ओर जाने वाले अद्वैत-मार्ग को प्रकाशित करते हैं। हम यह नहीं कहते कि कर्म, कर्ता, फल आदि नहीं है; हम तो केवल यह कहते हैं कि ये सब 'निःस्वभाव' हैं अर्थात् इनकी अपनी कोई सत्ता नहीं, इनकी सत्ता केवल व्यावहारिक है। इसलिये अद्वैतवादी माध्यमिकों के लिये मिथ्यादर्शन को स्थान नहीं है। यह बात स्पष्ट जान लेनी चाहिये कि माध्यमिक-दर्शन में शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, 'अस्ति' और 'नास्ति', इन दोनों के लिये कोई स्थान नहीं। शून्यता को ही समस्तप्रपञ्चनिवृत्तिरूप होने से निर्वाण कहा जाता है।

फिर भी कुछ लोग यह मिथ्या लाञ्छन लगाते हैं कि माध्यमिक विशिष्ट नास्तिक हैं। यह सर्वथा असत्य है। माध्यमिक प्रतीत्यसमुत्पादवादी हैं। वे इस लोक और परलोक दोनों को 'निःस्वभाव' बतलाते हैं, 'असत्' नहीं। नास्तिक इस लोक के पदार्थों को स्वभावतः उपलब्ध मान कर फिर उनका अपलाप करते हैं। नास्तिक 'असद्वादी' हैं। किन्तु माध्यमिकों को जगत् की व्यावहारिक सत्ता मान्य है। अतः माध्यमिक नास्तिक नहीं हो सकते। यदि यह कहा जाय कि वस्तुतः तो माध्यमिक और नास्तिक दोनों के लिये संसार की असिद्धि तुल्य है, तो भी हम यह कहेंगे कि संवृति दशा में सिद्धि मान कर परमार्थ दशा में असिद्धि मानना और बात है, और सर्वथा असिद्धि मानना दूसरी बात। जगत् को भावाभावविलक्षण

मान कर मिथ्या कहने में और उसे केवल असत् कहने में दिन-रात का अन्तर है। मान लीजिये किसी व्यक्ति ने चोरी की। एक पुरुष, जिसने उस व्यक्ति को चोरी करते हुये देखा था, न्यायालय में गवाही देता है कि अमुक व्यक्ति ने चोरी की। एक दूसरा पुरुष भी, जिसने उस व्यक्ति को चोरी करते हुये नहीं देखा, केवल उस चोर के शत्रुओं से प्रेरित होकर उसके विरुद्ध गवाही देता है। अब दोनों पुरुषों का कथन—कि अमुक व्यक्ति ने चोरी की है—समान है, किन्तु फिर भी पहला व्यक्ति सच्चा है और दूसरा झूठा। यही अन्तर माध्यमिक और नास्तिक में समझना चाहिये।

सारे प्रपञ्च का उपशम शून्यता का प्रयोजन है। प्रतिपक्षी शून्यता का अर्थ नास्तित्व समझता है और वह अपने प्रपञ्चजाल को ही बढ़ा रहा है, शून्यता का प्रयोजन नहीं जानता। जो प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है वही शून्यता का अर्थ है। जो 'अभाव' शब्द का अर्थ है, वह 'शून्यता' शब्द का अर्थ नहीं है। शून्यता का अर्थ अभाव समझ कर प्रतिपक्षी हम पर दोष लगाता है! बिचारा 'शून्यता' शब्द का अर्थ तक नहीं जानता!

संवृति का अर्थ है चारों ओर से ढकना। अज्ञान तत्व को सब ओर से ढक देता है, अतः अज्ञान को ही संवृति कहते हैं। अथवा संवृति का अर्थ है परस्पर-सम्भवन अर्थात् सापेक्षकारणतावाद या प्रतीत्यसमुत्पाद या स्वभावशून्यता। अथवा संवृति का अर्थ है सङ्केत या लोकव्यवहार। अभिधान-अभिधेय, ज्ञान-ज्ञेय आदि इसके रूप हैं। परमार्थ मौन है। वहाँ न वाणी की पहुँच है और न बुद्धि की। वह परमार्थ अपरप्रत्यय (अनिर्वचनीय), शान्त, सर्वप्रपञ्चातीत है। न उसका उपदेश दिया जा सकता है, न उसको बुद्धि से ग्रहण किया जा सकता है। फिर भी, लोकव्यवहार में उतरे बिना परमार्थ का उपदेश सम्भव नहीं। और बिना उपदेश के उसका ज्ञान सम्भव नहीं। और बिना परमार्थ को जाने, निर्वाण-प्राप्ति सम्भव नहीं। अतः निर्वाण-प्राप्ति का उपाय होने के कारण संवृति की आवश्यकता है, जैसे पानी लाने के लिये पात्र की।

शून्यता को 'भाव' रूप से या 'अभाव' रूप से पकड़ना भङ्कर है क्योंकि ऐसे ग्रहण करने वाले का शून्यता समाप्त कर देती है। यह मिथ्यादृष्टि है। जिसने इस शून्यता को जान लिया है, उसी के लिये लोकव्यवहार युक्त होता है। आना-जाना, जीना-मरना, यह परम्परा संसार है। दीर्घ-ह्रस्व के समान सापेक्ष होने से कभी

इसे 'अस्ति' कहा जाता है। दीपक की लौ के समान अथवा बीज-अङ्कुर के समान कभी-कभी इसकी उत्पत्ति का भी वर्णन किया जाता है। यह सब प्रतीत्यसमुत्पाद है। यह सब अविद्या है। किन्तु इसी प्रतीत्यसमुत्पाद की पारमार्थिक भावना होने पर अविद्या-निवृत्ति होती है और फिर संस्कार आदि का निरोध हो जाता है। वही निर्वाण है। वास्तव में निर्वाण में न किसी का निरोध होता है, न विनाश—यह स्पष्ट जान लेना चाहिये, क्योंकि जब किसी का उत्पाद ही सम्भव नहीं, तो निरोध किसका होगा? बन्धन और मोक्ष दोनों अविद्या के कार्य हैं। वस्तुतः समस्त कल्पनाक्षय ही निर्वाण है। वही शून्यता है।

मध्यमकावतार

६, ८. कोई भी पदार्थ स्वतः उत्पन्न नहीं होता (क्योंकि उसकी पुनरुत्पत्ति व्यर्थ है); जब 'स्वतः' नहीं हो सकता, तब 'परतः' तो हो ही नहीं सकता; स्वतः और परतः भी नहीं हो सकता; और बिना कारण तो होने ही क्यों लगा? यदि सत्कार्यवाद माना जाय, तो कार्य को उत्पत्ति के पूर्व ही कारण में स्थित मानना पड़ेगा, और यदि कार्य पहले ही 'स्थित' है, तो विद्यमान होने के कारण वह 'उत्पन्न' है, फिर उसकी पुनरुत्पत्ति से क्या लाभ?

६, १४. यदि असत्कार्यवाद मानें, तो कार्य को कारण से भिन्न माना पड़ेगा। फिर प्रत्येक कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न हो सकेगा। फिर तो अग्नि से घना अन्धकार भी उत्पन्न हो सकेगा, क्योंकि 'कारण' और 'अकारण' दोनों में ही 'परत्व' तो तुल्य है।

६, १९. यदि भाव 'सत्' है, तो वह पहले ही 'जात' है, फिर उसे 'जायमान' कैसे कह सकते हैं? और यदि 'जायमान' है, तो 'जन्मोन्मुख' कैसे हो सकता है क्योंकि 'जायमान' तो 'अर्धजात' होता है? इसी प्रकार यदि भाव 'सत्' है, तो उसका विनाश कैसे हो सकता है? निरोध के अभाव में उसे 'निरुध्यमान' कैसे कहा जायगा? और यदि वह 'निरुध्यमान' है, तो 'नाशोन्मुख' कैसे हो सकता है क्योंकि 'निरुध्यमान' तो 'अर्धनिरुद्ध' होता है? उत्पत्ति और विनाशशील क्षणों की सन्तति मानने पर, क्षणस्थायी क्षण में ही उत्पत्ति और विनाश एक साथ मानने पड़ेंगे, किन्तु उत्पाद और निरोध समान कैसे माने जा सकते हैं? और फिर बिना कर्ता के क्षण-परम्परा की उत्पत्ति भी कैसे संभव हो सकती है?

६,२३. समस्त भाव दो दृष्टियों से देखे जा सकते हैं—एक तो सम्यक् दृष्टि और दूसरी मृषा दृष्टि; जो सम्यक् दृष्टि का विषय है वह परमार्थ तत्व है और जो मृषादृष्टि का विषय है वह संवृति सत्य कहा जाता है।

६,२५. संवृति भी दो प्रकार की है—तथ्य संवृति और मिथ्या संवृति। अदुष्ट छहों (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और मन) इन्द्रियों द्वारा जो विषयों का ग्रहण होता है, उसे तथ्य संवृति (व्यवहार) करते हैं क्योंकि वह लोकव्यवहार की दृष्टि से सत्य है; शेष (दुष्ट इन्द्रियों से गृहीत या मन से कल्पित) को मिथ्या संवृति (प्रतिभास) कहते हैं क्योंकि वह लोकव्यवहार की दृष्टि से भी मिथ्या है।

६, २७. तैमिरिक पुरुषों (जिन्हें आँखों के आगे मक्खी, मच्छर जैसे निशान उडते से दिखाई देते हैं) का ज्ञान अतैमिरिक पुरुषों के ज्ञान को बाधित नहीं कर सकता; इसी प्रकार सांसारिक पुरुषों का सविकल्प बुद्धिजन्य ज्ञान विमल प्रज्ञा का बाध नहीं कर सकता।

६, २८. 'स्वभाव' अर्थात् परमार्थ तत्व को आवृत करने के कारण इस मोह-रूपी अविद्या को 'संवृति' कहा जाता है। संवृति के कारण 'मिथ्या' भी 'सत्य' तथा प्रतीत होता है (अतस्मिन् तद्बुद्धिः)। महामुनि बुद्ध भगवान् ने समस्त संस्कृत पदार्थों को संवृति सत्य के अन्तर्गत माना है।

६, ३१. लोकव्यवहार वास्तविक प्रमाण नहीं है, अतः लोकव्यवहार तत्वदर्शन का बाध नहीं कर सकता। संवृति की दृष्टि से लोकव्यवहार मान्य है, अतः संवृति की दृष्टि से लोकव्यवहार का भी बाध नहीं होता। यदि सांवृत दृष्टि से लोकव्यवहार बाधित होता, तो वास्तव में अभाववाद का प्रसंग होता।

६, ३०. यदि लोक को ही वस्तुतः प्रमाण मान लिया जाय, तो फिर लोक ही तत्वदर्शी बन जायगा और तब आर्यजन की आवश्यकता ही नहीं होगी। फिर आर्यमार्ग का भी क्या प्रयोजन? और यह कथन कि अविद्यानिष्ठ लोक ही प्रमाण है—उचित भी नहीं है। शून्यता को नहीं जान सकते हैं,

६, ४३. जो साधारण जन अत्यन्त गंभीर
उन लोगों के लिये, भगवान् ने अनुकम्पा करके, उन्हें कुशल कर्मों में प्रवृत्त करने
के लिये यह उपदेश दिया है कि-आलय है, पुद्गल है, स्कन्ध हैं और धातु भी हैं। उसी प्रकार

६, ४६. जिस प्रकार वायु के कारण महासमुद्र में तरंगें उठती हैं,

समस्त जगत्-प्रपञ्च के बीजभूत आलयविज्ञान में, अविद्याशक्ति के कारण, ये सारे प्रवृत्तिविज्ञान उठते रहते हैं।

६, ५१. विज्ञानवादी के लिये जैसे बाह्य विषय की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वैसे ही उसे स्वप्नादि अवस्थाओं में मनोविज्ञान की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं माननी चाहिये। वस्तुतः चक्षुरिन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप और उससे उत्पन्न चक्षुर्विज्ञान—ये तीनों ही मिथ्या हैं।

६, ५७. जो पदार्थ 'जात' है, 'विद्यमान' है, उसके विषय में यह कहना कि यह पदार्थ कारण-शक्ति से उत्पन्न हुआ है, ठीक नहीं, क्योंकि वह पदार्थ तो पहले से ही विद्यमान है, उसे शक्ति से क्या प्रयोजन? और यदि पदार्थ 'अजात' है, तो उसके लिये शक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं। विना विशेष्य के विशेषण नहीं होता, अन्यथा वन्ध्यापुत्र की सत्ता का भी प्रसंग आ जायगा।

६, ५८. यदि 'अजात' पदार्थ को भविष्य में उत्पत्ति अभीष्ट है, तो भी बिना शक्ति के तो उत्पत्ति हो नहीं सकती और 'अजात' में शक्ति है नहीं। अतः यही श्रेष्ठ है सापेक्ष कार्य-कारण-शृंखला चलती रहती है। इसकी अपनी सत्ता नहीं। जो प्रतीत्यसमुत्पन्न है, उसकी वास्तविक उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती—यह श्रेष्ठ पुरुषों का कथन है।

६, ७८. समस्त सांसारिक पदार्थ सदसद्विलक्षण, प्रतीत्यसमुत्पन्न, सापेक्ष, परतन्त्र और सांवृत हैं। संवृति और परमार्थ के विभाग को मानना अत्यावश्यक है, अन्यथा संवृति के सिद्ध न होने से यह संसार ही सिद्ध नहीं हो पायगा, फिर इसकी व्यावहारिक सत्ता भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि संसार परतन्त्र अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पन्न न माना जाय तो भी संवृति सिद्ध नहीं होगी। परपक्षी इस संसार को वस्तुतः सिद्ध करना चाहता है। वह इसे परमार्थ समझ बैठा है। वह इसकी वास्तविक सत्ता सिद्ध करना चाहता है। उसका इस संसार के प्रति इतना प्रगाढ प्रेम है कि वह इस संसार को वस्तुतः सत्य मानकर इससे चिपक रहा है। किन्तु वह इसके उलटे परिणाम को नहीं जानता। संसार की वास्तविक सत्ता जो कभी हो ही नहीं सकती—सिद्ध करना तो दूर रहा, वह इसकी व्यावहारिक सत्ता भी खो बैठता है। संसार को व्यवहार न मानने से सारी लोकव्यवस्था—पाप-पुण्य, ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, बन्धन-मोक्ष आदि—नष्ट हो जाती है।

६, ७९. जो लोग परमपूज्य आचार्य नागार्जुन के मार्ग को नहीं मानते, उनके लिये कल्याण-प्राप्ति का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि वे संवृति और परमार्थ सत्य से भ्रष्ट हो गये हैं और इसलिये उन्हें कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

६, ८०. व्यवहार-सत्य उपाय है और परमार्थ-सत्य उपेय। जो इनका विभाग नहीं मानता, वह अपनी कुबुद्धि के कारण मिथ्या विकल्पों के पंजे में फँसकर कुमार्ग पर चल रहा है।

शान्तिदेव

बोधिचर्यावतार

१, ४. पुरुषार्थ सिद्ध करने वाली यह अत्यन्त दुर्लभ क्षण-सम्पत् सौभाग्य से प्राप्त हो गई है। यदि अब भी हित-चिन्तन नहीं करते, तो फिर यह समागम कहाँ?

१, ८. यदि संसार के सैकड़ों दुःखों को तैर जाना चाहते हो, यदि दुःखार्त प्राणियों के व्यसनों को हर लेना चाहते हो, यदि बहुत से उत्तम सुख भोगना चाहते हो, तो इस बोधिचित्त को कभी मत छोड़ो।

१, १०. किसी अपवित्र स्थान में पड़े हुये, मैल में लिपटे हुये किसी बहुमूल्य रत्न को शुद्ध करके, शाण (सान) पर चढ़ाकर, अच्छी तरह काट पीट कर जैसे उससे एक उज्वल बहुमूल्य बुद्ध-प्रतिमा बनाई जाय, वैसे ही इस अपवित्र शरीर में पड़े हुये, कर्म और अविद्या के मल में लिपटे हुये इस बोधिचित्त को अच्छी तरह पकड़ कर इसे विमल, उज्वल और बहुमूल्य बनाओ।

२, ४२. यमदूतों द्वारा पकड़े जाने पर कहाँ बन्धु हैं और कहाँ मित्र? पुण्य ही उस समय एक मात्र रक्षक है। खेद है कि मैंने उसका उपार्जन नहीं किया।

२, ४८. मैं अभी ही जगत्पति, महाबली, जगत् की रक्षा में तत्पर, सारे भयों को हरने वाले भगवान् बुद्ध की शरण में जाता हूँ।

४, ४७. क्लेश न तो विषयों में हैं, न इन्द्रियों में, न बीच में, न कहीं और; फिर भी आश्चर्य है कि वे सारे जगत् को मथ रहे हैं। वास्तव में यह सब माया है। हे मेरे हृदय! डरो मत; बुद्ध-प्रज्ञा के लिये उद्यमशील हो जाओ; क्यों व्यर्थ में स्वयं को नरकभागी बना रहे हो?

५, १. शिक्षा की रक्षा के लिये चित्त की रक्षा आवश्यक है क्योंकि इस चंचल चित्त को पकड़े बिना, शिक्षा की रक्षा नहीं हो सकती।

५, ३. यदि चित्तरूपी मदमत्त हाथी को स्मृतिरूपी शृंखला से बाँध लिया, तो सारा भय अस्त हो गया और सारा कल्याण पा लिया।

५, १३–१४. सारी भूमि को ढकने के लिये चमड़ा कहाँ से आवेगा? जूते पहिने से ही सारी भूमि ढक जाती है, इसी तरह बाह्य भावों का कहाँ तक निवारण किया जाय, अपने चित्त को वश में करने से ही सारा जगत् वशीभूत हो जाता है।

५, ६२. इस शरीररूपी चमड़े के ढाँचे को अपनी बुद्धि से अलग करो, प्रज्ञारूपी शस्त्र लेकर इस अस्थिपंजर से मांस को हटा दो।

५, ६३. फिर हड्डियों को भी अलग अलग करके देखो, फिर उनके भीतर की मज्जा देखो; और फिर स्वयं विचार करो कि इन सब में क्या कुछ सार है?

५, ६७. यद्यपि तुम इस प्रकार बड़े यत्नों से इस शरीर की रक्षा करते हो, तथापि जब निर्दय मृत्यु तुमसे यह शरीर छीन कर गिद्धों को खिला देगा, तब तुम क्या कर लोगे?

५, १०९. शिक्षा को केवल वाणी से पढ़ लेने से कुछ नहीं होता; उस पर आचरण करना आवश्यक है। क्या रोगी दवाइयों का नुसखा पढ़कर ही ठीक हो सकता है?

६, ५७. एक व्यक्ति स्वप्न में सौ वर्ष तक सुख भोग कर जागता है और दूसरा व्यक्ति स्वप्न में एक पल तक ही सुख भोग कर जाग जाता है।

६, ५८. जाग जाने पर दोनों का सुख निवृत्त हो जाता है। फिर उन दोनों में क्या अन्तर? मृत्यु आ जाने पर चिरजीवी और अल्पजीवी का भी यही हाल है।

६, ५९. इस संसार में अनेक लाभ प्राप्त करके और चिरकाल तक सुख भोग कर भी, एक लूटे गये व्यक्ति के समान, नंगा और खाली हाथ ही यहाँ से जाना पड़ेगा।

६, ९२. सांसारिक पुरुष लौकिक यश पाने के लिये परमार्थ तक को छोड़ देते हैं और अपनी आत्मा तक का खून कर देते हैं। क्या वे अपने प्रशंसापत्रों और प्रमाणपत्रों के अक्षरों को शहद लगाकर चाटेंगे? मरने के बाद उन्हें इन सबसे क्या सुख मिलेगा?

७, १. दृढ़ता पूर्वक आत्मिक बल प्राप्त करो क्योंकि आत्मिक बल पाने पर

ही बोधि प्राप्त हो सकेगी। बिना आत्म-बल के पुण्य संभव नहीं है, जैसे बिना वायु के गति संभव नहीं।

७, १४. मानुष्यरूपी नाव पाकर दुःखरूपी संसार-नदी को तैर जाओ। मूर्खता मत करो। यह सोने का समय नहीं है। फिर यह नाव मिलना कठिन है।

७, ६४. इस संसार में जब, छुरे की धार पर लगी हुई शहद के समान, ऊपर से मीठे, किन्तु जीभ चीर देने वाले (पीड़ा देने वाले) काम-सुखों से तृप्ति नहीं होती, तो मीठे फल वाले, कल्याणकारी, पुण्यरूपी अमृत से तृप्ति कैसे हो?

७, ६९. जैसे विष रुधिर का सहारा लेकर सारे शरीर में फैल जाता है; उसी प्रकार दोष भी, छिद्र पाकर (कमी पाकर), चित्त में फैल जाता है।

८, ८. स्त्री-पुत्र-मित्रादिकों की चिन्ता में ही यह अल्प आयु बार बार व्यर्थ में ही क्षीण हो रही है; अनित्य मित्रों के कारण नित्य धर्म छूट रहा है।

८, ३२. मरने के बाद इस शरीर की हड्डियों के टुकड़े भी, जो एक साथ उत्पन्न हुये और सदा-साथ साथ रहे, अलग-अलग बिछुड़ जायँगे। फिर अन्य प्रियजनों और अन्य प्रिय पदार्थों के वियोग की तो बात ही क्या?

८, ९५. जैसे मुझे सुख प्यारा लगता है, वैसे ही दूसरों को भी; फिर मुझमें ही ऐसी क्या विशेषता है कि मैं केवल अपने ही सुख के लिये उद्यम करूँ?

८, १०८. दूसरों को दुःखसे छुड़ाने पर जो प्रसन्नताके सागर लहराते हैं, वे ही बहुत हैं; अरसिक मोक्ष से क्या?

९, १. महामुनि बुद्ध ने इस सब साधन-समुदाय को प्रज्ञा प्राप्त करने के लिये ही बताया है; अतः दुःख से निवृत्ति पाने की इच्छा हो, तो प्रज्ञा प्राप्त करो।

९, २. संवृति सत्य और परमार्थ सत्य—ये दो सत्य हैं। तत्त्व बुद्धि से अगोचर है और बुद्धि ही संवृति है।

९, ३. लोग भी दो प्रकार के हैं—योगी और साधारण पुरुष। साधारण जनों के ज्ञान का बाध योगियों के ज्ञान से हो जाता है।

९, ४. योगियों में भी उत्कर्षापकर्ष का तारतम्य होता है। उत्कृष्ट योगी का ज्ञान अपकृष्ट योगी के ज्ञान का बाध कर देता है।

९, ५. योगी संसार को व्यावहारिक मानते हैं और साधारण जन उसे पारमार्थिक समझते हैं। इसीलिये योगी और साधारण जन की दृष्टि में अन्तर है।

९, १०. जब तक हेतु-प्रत्यय-सामग्री है, तब तक ही माया है। अविद्या का यह दीर्घ सन्तान (प्रवाह) चलता रहता है। अतः जीव और जगत् को वस्तुतः सत्य नहीं माना जा सकता।

९, ३३. शून्यता-वासना से भाव-वासना क्षीण हो जाती है; 'यह सब कुछ नहीं है', इस प्रकार की भावना से फिर अभाव-वासना भी नष्ट हो जाती है।

९, ३५. जब भाव और अभाव दोनों ही बुद्धि के आगे नहीं टिकते, तो अन्य गति के अभाव में, बुद्धि की चारों कोटियाँ, निरालम्ब होकर, क्षीण हो जाती हैं।

९, ४५. जो लोग बुद्धि की कोटियों के जाल में फँस कर चित्त को निरालम्ब नहीं बना सकते उनके लिये न बुद्ध का उपदेश है, न भिक्षुता है, और न निर्वाण है।

९, ५५-५६. क्लेशावरण और ज्ञेयावरण-रूपी द्विविध अज्ञानान्धकार के नाश का नाम ही शून्यता है। जीव को सत्य मानने से क्लेशावरण और बाह्य विषयों को सत्य मानने से ज्ञेयावरण होता है। पुद्गलनैरात्म्य से क्लेशावरण का और धर्मनैरात्म्य से ज्ञेयावरण का क्षय होता है। द्विविध नैरात्म्यज्ञान को ही शून्यता कहते हैं। शून्यता सारे दुःखों का शमन करने वाली है। आश्चर्य है कि फिर भी अज्ञानियों को इससे भय होता है।

चतुर्थ परिच्छेद

विज्ञानवाद

असङ्ग

महायानसूत्रालङ्कार

१, ८. भगवान् बुद्ध प्रत्येक वस्तु को करतलामलकवत् प्रत्यक्ष देखने वाले हैं, वे सद्धर्म के रक्षक हैं, वे सर्वज्ञ हैं और उसकी प्रज्ञा अनावृत तथा अबाधित है; अतः उनके बताये हुये मार्ग में उपेक्षा रखना ठीक नहीं।

१, १०. आशय, उपदेश, प्रयोग और समय—इन चारों बातों में महायान से विरुद्ध होने के कारण हीनयान वास्तव में हीन ही है।

१, १२. तर्क आगम-निश्रित, अनियत, अव्यापी, सांवृत और कष्टदायक है; साधारण जन ही इसका आश्रय लेते हैं; तत्त्व तक तर्क की गति नहीं है।

६, १. परमार्थ का लक्षण यही है कि वह सर्वप्रपञ्चातीत है; वह न तो सत् है, न असत्, न तथा, न अन्यथा; न उसका उत्पाद है, न विनाश, न क्षय, न वृद्धि; न वह शुद्ध है, न अशुद्ध।

६, २. आत्म-दृष्टि न स्वलक्षण है और न विलक्षण और न दोनों से भिन्न; वह तो केवल भ्रम है; और इसीलिये भ्रम के क्षय को ही मोक्ष कहते हैं।

६, ४. समस्त सांसारिक पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। आश्चर्य है कि अबोध जन 'स्वतः' या 'परतः' उत्पत्ति ढूँढ़ा करते हैं। यह अविद्या का कितना गहन अन्धकार है कि अबोध पुरुष सदा 'सत्' और 'असत्' को देखा करता है और इन्हीं के सहारे भूला करता है।

६, ५. परमार्थ की दृष्टि से बन्धन और मोक्ष, संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं है; फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से शुभकर्म करने वालों के लिये जन्मक्षय और निर्वाणलाभ का प्रतिपादन किया जाता है।

६, ७. बाह्य पदार्थों को कल्पित मान कर योगी पहले 'चित्त' की शरण लेता है; फिर वह चित्त को भी बाह्य पदार्थों के समान ही कल्पित जान लेता है; इस प्रकार धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य का बोध होने पर, सब प्रकार के द्वैत और प्रपञ्च से अस्पृष्ट धर्मधातु का साक्षात्कार किया जाता है।

६, ८. बुद्धिमान् पुरुष पहले बाह्य धर्मों को कल्पित जान कर यह बोध करता है कि—'चित्त के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है'; फिर वह चित्त को भी कल्पनामात्र समझने लगता है। धर्म और चित्त, विषय और विषयी, जगत् और जीव—दोनों को सांवृत जानकर वह धर्मधातु में स्थित हो जाता है—उस धर्मधातु में जहाँ धर्म और जीवरूपी प्रपञ्च की पहुँच नहीं है।

६, ९. जिस प्रकार तीव्र औषध विष के प्रभाव को दूर करके स्वास्थ्य प्रदान करती है, उसी प्रकार निर्विकल्प ज्ञान में सदा के लिये स्थित होने वाले योगी के सविकल्प बुद्धि के सारे ग्राहों को तथा सारे दोषसमुदाय को वह निर्विकल्प ज्ञान उखाड़ फेंकता है और उसे परमानन्द प्रदान करता है।

७, २-३. निर्विकल्प ज्ञान की समाधि में, चतुर्थ सुविशुद्ध ध्यान में, स्थित होकर योगी नित्य श्रेष्ठ, दिव्य, अद्वितीय और उदार ब्राह्मविहार में रमण करता है।

८, १४. बोधिसत्त्व प्राणियों का बोधिविपाक करता हुआ उनके हित में जितना तल्लीन रहता है. उतने तल्लीन न तो माता-पिता अपने पुत्रों के हित में रहते हैं और न बन्धुगण अपने बन्धुओं के।

९, ७-८ बुद्धत्व समस्त क्लेशों से, समस्त दुश्चरितों से और जन्म-मरण-भय से बचने का एक मात्र साधन है।

९, २२. बुद्धता आदि-अन्त-विवर्जित, सब आवरणों के मल से रहित, शुद्धि-अशुद्धि आदि सारे द्वन्द्वों से ऊपर और सदा एकरस रहनेवाली तथता है।

९, २३. सद्धर्म के मार्ग पर चल कर, धर्म और पुद्गलनैरात्म्य प्राप्त करके, शून्यता के विशुद्ध हो जाने पर, बुद्ध जन अपनी विशुद्ध आत्मा का साक्षात् करके जीवात्मा से महात्मा बन जाते हैं।

९, २४. अतः बुद्धत्व को सर्वप्रपञ्चातीत होने से न भाव कहा जाता है और न अभाव। इसीलिये बुद्धत्व या तथता के विषय में अव्याकृतनय अर्थात् अनिर्वचनीयतावाद ही मान्य है।

९, ५५. जैसे महासमुद्र में नदियों पर नदियाँ गिरती रहती हैं, तथापि वह न तो बढ़ता है; न घटता है और न जल से तृप्त ही होता है; उसी प्रकार धर्मधातु में विशुद्ध मुक्त बुद्ध निरन्तर विलीन होते रहते हैं, किन्तु महान् आश्चर्य है कि धर्मधातु न तो बढ़ता है और न तृप्त ही होता है।

९, ५९. बुद्धों का यह आदिविशुद्ध स्वप्रकाश धर्मधातु, स्वभाव से ही, तीन रूपों में भासित होता है—धर्मकाय (सत्), निर्माणकाय (चित्) और संभोगकाय (आनन्द)।

९, ८३–८५. भिन्न-भिन्न नदियाँ अलग-अलग अल्प जलों में बहती हैं, किन्तु जब वे समुद्र में मिल जाती हैं तब वे एकजल हो जाती हैं और समुद्र ही कहलाती हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न जीवात्मा जब बुद्ध होकर धर्मधातु में मिल जाते हैं तो वे एकरूप हो जाते हैं और धर्मधातु ही कहलाते हैं।

११, १३. तत्त्व सदा द्वैतरहित है। वह भ्रान्तिरूप अविद्या का अधिष्ठान है। वह अनिर्वचनीय है—उसका पूर्ण निर्वचन सम्भव नहीं। वह प्रपञ्चशून्य है। स्वभाव से ही अत्यन्त विशुद्ध होने पर भी वह अविद्या-मल से लिप्त-सा प्रतीत होता है। अतः व्यवहार दशा में यह उपदेश दिया जाता है कि तत्त्व को जानों और अविद्या-मल को दूर करो। जैसे आकाश, सुवर्ण और जल, स्वभाव से शुद्ध होने पर भी, मेघों के कारण, खान के कारण और मिट्टी के कारण मलिन प्रतीत होते हैं, और मल हट जाने पर फिर विमल होकर स्वभावनिष्ठ बन जाते हैं, वैसे ही तत्त्व भी अविद्या के कारण सांसारिक क्लेशों से मलिन प्रतीत होता है और अविद्या की निवृत्ति होने पर उसके विशुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।

११, ४७. बुद्धिमान् व्यक्ति इस संसार में दोनों प्रकार के नैरात्म्य को—धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य को—जान कर और जगत् तथा जीव दोनों को समान रूप से समझ कर तत्त्व में प्रवेश करता है; किन्तु उसका यह प्रवेश अभी सविकल्प बुद्धि के ग्राहों द्वारा ही होता है। उसे अभी तत्त्व का बौद्धिक ज्ञान ही होता है, निर्विकल्प साक्षात्कार नहीं। फिर निरन्तर योग-भावना द्वारा वह बुद्धि की कोटियों के ऊपर उठ कर अनिर्वचनीय निर्विकल्प अनुभूति में पहुँच जाता है; यह अपरोक्षानुभूति ही, जहाँ बुद्धि के समस्त विकल्पों का शमन हो जाता है, मुक्ति है।

१२, २. यह परम धर्म, यह तत्त्वानुभूति, प्रत्यात्मवेद्य अर्थात् निर्विकल्प प्रज्ञा द्वारा साक्षात्कर्तव्य है, बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं। अतः भगवान् ने इस धर्म का उपदेश नहीं दिया। फिर भी, लोक-व्यवहार पर उतर कर, भगवान् ने युक्तिविहित उपायों से जनता को तत्त्व की ओर आकृष्ट किया।

१३, १२. तत्त्व ही, अविद्या के कारण, संसार रूप में प्रतीत होता है। कोई धर्म, कोई सांसारिक पदार्थ, ऐसा नहीं है जो तत्त्व या धर्मधातु के बाहर हो, जिसमें धर्मधातु अन्तर्यामी न हो। इसीलिये बुद्धिमान् पुरुषों ने संक्लेश (क्लेशयुक्त संसार) का निर्देश करते समय उसे भी संवित् (विशुद्ध विज्ञान) बतलाया है अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि से संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं बतलाया।

१३, १९. विशुद्ध चित्त (विज्ञानमात्र परम तत्त्व) प्रकृति-प्रभास्वर अर्थात् स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध है। समस्त दोष (अविद्या और कर्म के मल) आगन्तुक (अध्यस्त अर्थात् अविद्या-कल्पित) हैं। यद्यपि वास्तव में ये दोष तत्त्व को दूषित नहीं कर सकते, तथापि तत्त्व इनसे दूषित-सा प्रतीत होता है। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि विशुद्ध धर्मता-चित्त (विज्ञानमात्र परम तत्त्व) को ही प्रकृति-प्रभास्वर कहा जाता है, अन्य चित्त (मनोविज्ञान या जीव) को नहीं।

१४, २८. योगी द्वैतग्राह से रहित, लोकोत्तर, अद्वितीय, निर्विकल्प, विमल ज्ञान प्राप्त करता है।

१४, ३४. जो यह जान ले कि न 'भाव' है, न 'अभाव', न 'भावाभाव', वही 'शून्यज्ञ' अर्थात् शून्यता को जानने वाला कहा जाता है।

१४, ३७. अपनी बुद्धि से इस जगत् को संस्कारमात्र समझ कर इसे जो अनात्म और दुःखरूप जान लेता है, वह सब अनर्थों की जड़ इस 'आत्म-दृष्टि' को छोड़ कर परमार्थरूप 'महात्म-दृष्टि' को प्राप्त करता है।

१६, ५. भोगों से तीव्र वैराग्य, गम्भीरता, द्वन्द्वों से अविचलित रहना, और निर्विकल्प समाधि—इनमें सारा महायान आ जाता है।

२०, ३२. योगी की दस भूमियाँ ये हैं—प्रथम भूमि में योगी बुद्धि की निर्बलता को जान कर परमपुरुषार्थ की साधनभूत बोधि को पाने के लिये सानन्द अग्रसर होता है और उसे आसन्न समझ कर उसे तीव्र मोद उत्पन्न होता है, इसलिये इस भूमि को 'प्रमुदिता' कहते हैं।

२०, ३३. अकुशल कर्मों और भोगासक्ति के त्याग से तथा तीन कुशलमूलों (बोधिचित्तोत्पाद, आशयविशुद्धि और अहंकार-ममकार-परित्याग) के उपार्जन से चित्त विमल हो जाता है, अतः दूसरी भूमि को 'विमला' कहते हैं। सद्धर्म के प्रकाश को उत्पन्न करने के कारण तृतीय भूमि को 'प्रभाकरी' कहते हैं।

२०, ३४. बोधिपक्ष धर्म (स्मृत्युपस्थान, ऋद्धिपाद, बोध्यङ्ग, अष्टाङ्गिकमार्ग आदि ३७ धर्म) ज्वाला के समान हैं और द्वैत-प्रपञ्च को जला देते हैं, अतः चतुर्थ भूमि को 'अर्चिष्मती' कहा जाता है।

२०, ३५. सत्त्वों के परिपाक और विमल चित्त की रक्षा द्वारा बुद्धिमान् पुरुष दुःख को जीत लेते हैं, अतः पञ्चम भूमि को 'दुर्जया' (जहाँ दुःख जीत लिया जाय) कहते हैं।

२०, ३६. प्रज्ञापारमिता के आश्रय के कारण संसार से निवृत्त होकर अद्वय तत्त्व की ओर अभिमुख होने से षष्ठ भूमि 'अभिमुखी' कही जाती है।

२०, ३७. परमार्थ मार्ग पर अकेले दूर तक चले जाने के कारण सप्तम भूमि को 'दूरङ्गमा' कहते हैं। द्वैत-प्रपञ्च से अविचलित होने के कारण अष्टम भूमि 'अचला' कहलाती हैं।

२०, ३८. निर्विकल्प प्रज्ञा द्वारा मति के विमल हो जाने के कारण नवम भूमि को 'साधुमती' कहते हैं। जैसे आकाश में मेघ छा जाते हैं और फिर बरसते हैं, इसी प्रकार समस्त धर्मों में अद्वैत तत्त्व व्याप्त हो जाता है और बोधिसत्त्व का, बुद्ध बनने के कारण, धर्ममेघों से 'स्वाराज्याभिषेक' होता है, अतः दशम भूमि को 'धर्ममेघा' कहते हैं।

२०, ४६. हे सब आवरणों से मुक्त, लोकोत्तर, महामुनि बुद्ध! आप ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी के ऊपर उठ कर निर्विकल्प विशुद्ध विज्ञानमात्र होकर मुक्तचित्त बन गये हैं। आपको नमस्कार है।

वसुबन्धु

(१)

अभिधर्मकोश

१, १. जिन्होंने सर्वथा सब प्रकार के अन्धकार को नष्ट कर दिया है, जिन्होंने जगत् का जन्म-मृत्यु-चक्ररूपी कीचड़ से उद्धार किया है, जो परमार्थ-शास्ता हैं, उन भगवान् बुद्ध को नमस्कार करके मैं अभिधर्मकोश नामक शास्त्र लिखता हूँ।

१, २. अपने सब अङ्गों सहित विमल प्रज्ञा ही 'अभिधर्म' कहलाती है। उस विमल प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये जो कुछ ज्ञान है या जो कोई शास्त्र है, उस ज्ञान और

शास्त्र का इसमें यथार्थ प्रवेश होने के कारण, अथवा वह इसका आश्रय है, इस कारण, इसको 'अभिधर्मकोश' कहा गया है।

१, ४. धर्म दो प्रकार के हैं—सास्रव और अनास्रव। समस्त संस्कृत (संस्कारों से उत्पन्न) धर्मों को और मार्गसत्य को छोड़ कर अन्य सत्यों को (अर्थात् दुःख, समुदय, निरोध सत्यों को) सास्रव धर्म कहते हैं, क्योंकि इनमें आस्रव (मल) लगे रहते हैं।

१, ५–६. मार्गसत्य और तीन असंस्कृत धर्मों को (अर्थात् आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध को) अनास्रव धर्म कहते हैं। अनावरण का नाम आकाश है। सास्रव धर्मों के पृथक्-पृथक् वियोग को प्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं। धर्मों का जो उत्पत्ति के बाद ही होने वाला अवश्यम्भावी स्वरूप-वियोग या विनाश है (क्षणभङ्गस्वरूप) उसको अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं।

१, ७. रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—इन पाँच उपादान स्कन्धों के संस्कृत धर्म कहते हैं; इन्हीं को संसार-मार्ग (अध्वा), कथावस्तु, सनिःसार (जिनके पार जाना सम्भव है) और सवस्तुक भी कहा जाता है।

१, ८. इन सास्रव उपादान-स्कन्धों को 'सरण' (दुःखदायी) भी कहते हैं। इन्हीं को दुःख, समुदय, लोक, दृष्टिस्थान (तर्क-विकल्पों का स्थान) और भव भी कहा जाता है।

२, ६१–६२. प्रत्यय (कारण-सामग्री) चार हैं—हेतु, समनन्तर, आलम्बन और अधिपति। निर्वर्तक या उत्पादक कारण को हेतु कहते हैं। ये पाँच हैं—सहभू, सभाग, संप्रयुक्तक, सर्वत्रग और विपाक। इन पाँचों को सामान्य-रूप से 'हेतु' कहा जाता है। पूर्व क्षण में उत्पन्न चित्तचैत्तों को 'समनन्तर' कहते हैं। कार्य-कारण-सन्तान में पूर्व क्षण (कारण-क्षण) का नाम समनन्तर है। समस्त संस्कृत और असंस्कृत धर्मों को (विषयों को जिनके आश्रय से विज्ञान उत्पन्न होता है 'आलम्बन' प्रत्यय कहते हैं। कारणहेतु को—'इसके होने पर यह होता है, इस प्रतीत्यसमुत्पाद नियम को—'अधिपति' प्रत्यय कहा जाता है।

३, १८–१९. कोई 'आत्मा' नामक नित्य जीव नहीं है। केवल क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह चलता रहता है। क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होने वाला यह स्कन्ध-पञ्चक, कर्म और क्लेशों से मिल कर, जन्म लेता है। क्षणिक सन्तान के कारण,

प्रदीप के समान, एकत्व की भ्रान्ति होती है। जैसे प्रदीप की लौ एक प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में वह क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होने वाली शिखाओं की शृङ्खला है, उसी प्रकार 'आत्मा' एक प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह क्षणिक विज्ञानों का सन्तानमात्र है। यह क्षणिक स्कन्धसन्तान ही, कर्म-क्लेश के प्राक्तन संस्कारों के कारण, इस लोक में जन्म लेता है। और यही स्कन्ध-सन्तान, कर्म और क्लेशों के कारण, प्रवाहित होता रहता है और फिर इस लोक से (मर कर) परलोक चला जाता है। इस प्रकार जन्म-मरण का, संसरण का, इस लोक से परलोक और परलोक से इस लोक में आवागमन का यह अनादि भव-चक्र चलता रहता है।

३, २०. इसी भव-चक्र को प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र कहते हैं। इसके बारह अङ्ग या निदान हैं (अविद्या से लेकर जरा-मरण तक) और यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान से सम्बन्धित है। अविद्या और संस्कार नामक पहले के दो अङ्ग अतीत से सम्बन्ध रखते हैं। जाति और जरा-मरण नामक पिछले दो अङ्ग अनागत से सम्बन्ध रखते हैं। बीच के शेष आठ अङ्ग (विज्ञान से लेकर भव तक) प्रत्युत्पन्न से सम्बन्ध रखते हैं।

३, २१-२७. पूर्वजन्मों की क्लेशदशा का नाम 'अविद्या' है। पूर्वजन्मों की कर्म-दशा का नाम 'संस्कार' है। गर्भावस्था के प्रतिसन्धि-क्षण में पञ्चस्कन्धों का आना 'विज्ञान' कहलाता है। गर्भ में आने के बाद और इन्द्रियों की उत्पत्ति के पहले, पञ्चस्कन्धों को 'नामरूप' कहते हैं। पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों और मनको 'षडायतन' कहते हैं। इन्द्रिय-विषय-विज्ञान इन तीनों के परस्पर सङ्गम से 'स्पर्श' उत्पन्न होता है। सुख-दुःखादि के कारण को जानने की शक्ति से पहले सुख, दुःख और उदासीनता की अनुभूति को 'वेदना' कहते हैं। सांसारिक सुखों के उपभोग के लिये जो राग उत्पन्न होता है उसे 'तृष्णा' कहते हैं। भोगों में आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के लिये चारों ओर दौड़ने का और प्राप्त भोगों से चिपकने का नाम 'उपादान' है। भोगों की प्राप्ति के लिये जो कर्म किये जाते हैं, जिनके कारण अगला जन्म होगा, उन कर्मों को 'भव कहते हैं। मृत्यु से लेकर पुनर्जन्म तक की प्रतिसन्धि को 'जाति' कहते हैं। जाति से लेकर वेदना तक की अवस्था को 'जरा-मरण' कहते हैं। अविद्या, तृष्णा और उपादान—ये तीन 'क्लेश' हैं। संस्कार और भव—ये दो 'कर्म' हैं। शेष सात 'वस्तु' (क्लेशों और कर्मों के आश्रयभूत) भी हैं और 'फल'

(क्लेशों के और कर्मों के विपाकभूत) भी हैं। प्रत्युत्पन्न से सम्बन्धित बीच के आठ अङ्गों के अनुमान के कारण, अविद्या और संस्कार इन पूर्व अङ्गों को 'हेतु' और जाति तथा जरा-मरण इन चरम अङ्गों को 'फल' कहते हैं। क्लेश से क्लेश (जैसे तृष्णा से उपादान), क्लेश से क्रिया (जैसे उपादान से भव), क्रिया से वस्तु (जैसे संस्कार से विज्ञान), वस्तु से वस्तु (जैसे विज्ञान से नामरूप) और फिर वस्तु से क्लेश (जैसे वेदना से तृष्णा) उत्पन्न होते रहते हैं—यह भवचक्र के अङ्गों का नियम है।

४, १. यह लोकवैचित्र्य कर्म से उत्पन्न है। मानस कर्म को 'चेतना' कहते हैं। वाक्कर्म और कायकर्म दोनों मानसकर्म से उत्पन्न होते हैं।

५, २५–२६. बाह्य और मानस दोनों धर्मों का अस्तित्व मानने वालों को 'सर्वास्तिवादी' कहा जाता है। ये चार प्रकार के हैं—भावान्यथावादी, लक्षणान्यथावादी, अवस्थान्यथावादी और अन्यथान्यथावादी। इन चारों में तृतीय मत—अवस्थान्यथावाद—श्रेष्ठ है, क्योंकि यह कारित्र (कर्म) से व्यवथित है।

भदन्त धर्मत्रात—भावान्यथावादी हैं। उनके अनुसार गुण बदलते हैं, द्रव्य नहीं, जैसे दूध के दही बन जाने पर भी द्रव्य नहीं बदलता। भदन्त घोषक—लक्षणान्यथावादी हैं। जब कोई अतीत हो जाता है, तो वह 'अतीतलक्षण' कहा जाता है, यद्यपि वह प्रत्युत्पन्न और अनागत लक्षणों से वियुक्त नहीं कहा जा सकता है, जैसे कोई पुरुष यदि एक स्त्री में अनुरक्त हो, तो वह अन्य स्त्रियों में विरक्त नहीं कहा जाता। भदन्त वसुमित्र—अवस्थान्यथावादी हैं। उनके अनुसार धर्मों में अवस्था के कारण भेद है, द्रव्य के कारण नहीं। धर्म अवस्थानुसार अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न कहे जाते हैं, जैसे मिट्टी की गोली को एक के अङ्क पर रखने से एक, दस के अङ्क पर रखने से दस और सौ के अंङ्क पर रखने से सौ कहा जाता है। यदि धर्म कारित्र में स्थित है तो वह वर्तमान है, यदि कारित्र से च्युत है तो अतीत है, और यदि कारित्र को प्राप्त नहीं हुआ है, तो अनागत है। भदन्त बुद्धदेव—अन्यथान्यथावादी हैं, जैसे एक स्त्री, सम्बन्ध के कारण, पुत्री, भगिनी, पत्नी, माता आदि कही जाती है।

८. ४०. प्रायः काश्मीर वैभाषिक मत के अनुसार मैंने (वसुबन्धु ने) अभिधर्म का विवेचन किया है। इसमें जो कुछ त्रुटियाँ हों, वे सब मेरे दोष के कारण हैं। सद्धर्म के विषय में मुनिजन प्रमाण हैं।

(२)

त्रिस्वभाव निर्देश

१. परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न—ये तीन स्वभाव हैं जिनको विद्वानों को अच्छी तरह जान लेना चाहिये।

२. जो हेतु-प्रत्यय सामग्री के कारण प्रतीत होता है वह 'परतन्त्र' है। जो कल्पनामात्र के कारण प्रतीत होता है वह 'परिकल्पित' है।

३. जिसके कारण परतन्त्र प्रतीत होता है, किन्तु जिस रूप में (ज्ञाता-ज्ञेयादि द्वैत-प्रपञ्च में) परतन्त्र प्रतीत होता है वह रूप वास्तव में जिसका नहीं है, जिसका कभी अन्यथाभाव नहीं होता और जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, वह 'परिनिष्पन्न' है।

१७. परिकल्पित और परतन्त्र संक्लेश (संसार) के लक्षण हैं; परिनिष्पन्न व्यवदान (निर्वाण) का लक्षण है।

३६. चित्तमात्र के उपलंभ होने पर ज्ञेयार्थ उपलब्ध नहीं होते; बाद में ज्ञेयार्थ उपलब्ध न होने पर चित्त की भी उपलब्धि नहीं होती।

३७. इस प्रकार धर्म नैरात्म्य और पुद्गल नैरात्म्य का ज्ञान होने पर धर्मधातु की प्राप्ति होती है और उसकी प्राप्ति से विभुत्व मिलता है।

३८. विभुत्व प्राप्त होने पर लोकोत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त होती है जो त्रिकायात्मक (धर्मकाय, निर्माणकाय और संभोगकाय) है।

(३)

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-विंशतिका

(स्वरचितवृत्तिसहित)

१. यह सब कुछ विज्ञानमात्र ही है, क्योंकि बाह्य अर्थ मिथ्या हैं। बाह्य अर्थ केवल प्रतिभास हैं, जैसे तैमिरिक पुरुष को अपनी आँखों के आगे बालों जैसे चिह्न उड़ते दिखाई देते हैं या एक चन्द्रमा के स्थान पर दो चन्द्रमा दीखते हैं।

महायान में तीनों लोक (कामलोक, रूपलोक और अरूपलोक) विज्ञानमात्र माने जाते हैं। चित्त, मन, विज्ञान और विज्ञप्ति—ये सब पर्याय हैं। 'चित्त' शब्द

में 'चैत्त' धर्मों का भी समावेश है। 'मात्र' शब्द बाह्यार्थों के प्रतिषेध के लिये है। यहाँ प्रतिपक्षी शंका करता है—

२. यदि बाह्य अर्थों के बिना ही विज्ञान की उत्पत्ति संभव हो, तो देशनियम, कालनियम, सन्तानाऽनियम और कृत्यक्रिया अयुक्त होंगे।

यदि रूपादि अर्थों (चक्षुरादि इन्द्रियों के अर्थों) के बिना ही रूपादि विज्ञान उत्पन्न होते हों, तो फिर वे देशविशेष में ही क्यों उत्पन्न होते हैं, सर्वत्र क्यों नहीं होते ? और कालविशेष में ही क्यों होते हैं, सर्वदा क्यों नहीं होते ? सभी उपस्थित व्यक्तियों (विज्ञान-सन्तानों) को क्यों दिखाई देते हैं, किसी व्यक्तिविशेष को ही क्यों नहीं दिखाई देते ? और उनमें अर्थक्रियासामर्थ्य कहाँ से आयगा ? स्वप्न के भोजन और पानी से तो भूख-प्यास नहीं बुझ सकती। अतः बाह्य अर्थों की सत्ता माननी ही पड़ेगी।

३-४. प्रतिपक्षी की शंका निर्मूल है, क्योंकि देशनियम, और कालनियम तो स्वप्न में भी सिद्ध है; और नरक में जाने वाले सभी प्रेत दुर्गन्धयुक्त मवाद की नदी आदि बीभत्स दृश्य देखते हैं, अतः सन्तानानियम भी सिद्ध है। कृत्यक्रिया (अर्थक्रियासामर्थ्य) स्वप्न और नरक दोनों में सिद्ध है—स्वप्न में बिना वास्तविक संभोग के भी स्वप्नदोष हो जाता है और नरक में प्रेत नरक-पालों को देखते हैं और उनसे भयभीत और पीड़ित होते हैं।

स्वप्न में बाह्य अर्थों के बिना भी, कहीं-कहीं और कभी-कभी ही नगर, उद्यान, स्त्री, पुरुष आदि वस्तुयें दिखाई देती हैं, सर्वत्र और सर्वदा नहीं, अतः देशनियम और कालनियम स्वप्न में भी होते हैं। जो जो प्रेतात्मायें अपने एक से बुरे कर्मों के कारण नरक में जाती हैं, वे सभी—केवल एक प्रेतात्मा ही नहीं—मवाद की नदी आदि देखती हैं। किन्तु नरक में बाह्य अर्थ नहीं हैं, अतः अर्थों के बिना भी सन्तानानियम सिद्ध हो जाता है। कृत्यक्रिया स्वप्न में स्वप्नदोष से और नरक में नरक-पालों के दर्शन और तज्जन्य भय तथा बाधा से सिद्ध है।

६-७. यदि प्रतिपक्षी नरक में नारकीय पुरुषों के कुकर्मों की वासना के कारण नरक-पालों व मवाद की नदी आदि पदार्थों की उत्पत्ति मानता है, तो फिर उन्हें विज्ञान-परिणाम ही क्यों नहीं मान लेता ? कर्म-वासना तो रहती है विज्ञान में, फिर उसका फल नरक में कहाँ से होगा ? आश्चर्य है कि प्रतिपक्षी जहाँ कर्म-वासना है, वहाँ ही उसका फल भी क्यों नहीं मान लेता ?

नरक-पाल आदि व्यक्ति सत्य तो हो नहीं सकते, क्योंकि वे नरक के दुःख को स्वयं नहीं भोगते, वे तो नारकीय प्रेतों को ही दुःख का भोग कराते हैं, अतः प्रतिपक्षी भी यह मानता है कि नारकीय प्रेतों के कर्मों के कारण ही नरक-पाल आदि प्रतीत होते हैं। किन्तु कर्म-वासना रहती है विज्ञानसन्तान में, फिर उसका फल विज्ञान-बाह्य कैसे हो सकता है? अतः इनको विज्ञान-परिणाम ही मानना चाहिये। यदि ऐसा न मानने में प्रतिपक्षी आगम को कारण मानता है, तो यह उसकी भूल है, क्योंकि—

८. भगवान् बुद्ध ने रूपादि आयतनों के अस्तित्व का उपदेश विनेयों को अभिप्राय के कारण दिया है, जैसे उन्होंने अभिप्रायवश पुद्गल के अस्तित्व का भी उपदेश दिया है।

विज्ञान-सन्तान अविच्छिन्न रूप से चलता है, इस अभिप्राय से उन्होंने 'सत्त्व है' यह उपदेश लोगों को पुण्यकर्म करने के लिये दिया है। वास्तव में उनका उपदेश है कि 'यहाँ कोई सत्त्व या आत्मा नहीं है; प्रतीत्यसमुत्पन्न स्कन्धों की सन्तति अविच्छिन्न चलती रहती है।'

१०. यह जानकर विनेयों को पुद्गल-नैरात्म्य का ज्ञान हो जाता है। फिर भगवान् ने विज्ञप्तिमात्र का उपदेश धर्म-नैरात्म्य के ज्ञान के लिये दिया। किन्तु यह द्विविध नैरात्म्य-ज्ञान कल्पित जीवात्मा की दृष्टि से ही हैं, (वास्तविक बुद्धात्मा की दृष्टि से नहीं।)

'स्कन्धों की अविच्छिन्न सन्तति चलती रहती है', यह जानकर पुद्गलनैरात्म्य की, और विज्ञप्तिमात्र ही रूपादिप्रतिभासवत् प्रतीत होता है, वास्तव में कोई रूपादि विषय नहीं है', यह जानकर धर्मनैरात्म्य की अनुभूति होती है। यहाँ प्रतिपक्षी को शंका होती है कि यदि वास्तव में सर्वथा कोई भी धर्म नहीं है तो विज्ञप्तिमात्र भी नहीं होना चाहिये, फिर इसकी सिद्धि कैसे हो सकती है? इसका उत्तर है कि—धर्मनैरात्म्य का यह अर्थ नहीं है कि सर्वथा कोई भी धर्म नहीं है; इसका अर्थ यह है कि सविकल्प बुद्धि द्वारा कल्पित जितने भी धर्म हैं, वे नहीं हैं। साधारणजन बुद्धि की कोटियों में फँसकर ग्राह्य और ग्राहक, विषय और विषयी, जगत् और जीव, इस द्वैत की कल्पना कर लेते हैं और इस सविकल्प प्रपञ्च को ही सत्य मान लेते हैं। धर्मनैरात्म्य उनके इस प्रपञ्च का निराकरण करता है, विशुद्ध निर्विकल्प

विज्ञप्तिमात्र का नहीं। कल्पित जीवात्मा का निराकरण होता है, बुद्धों के निर्विकल्प साक्षात्कार के विषयभूत अनिर्वचनीय विशुद्ध विज्ञानमात्ररूपी आत्मा का नहीं, क्योंकि वह स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश विज्ञप्तिमात्र ही तो इस सब प्रपञ्च का अधिष्ठान है। विज्ञप्तिमात्र का निराकरण करना असंभव है, क्योंकि इसका निराकरण भी विज्ञप्ति के द्वारा ही हो सकता है, अतः जो निराकर्ता है वही उसका स्वरूप है। इसलिये विज्ञप्तिमात्र का निराकरण वदतोव्याघात है। नैरात्म्यवाद का अर्थ विज्ञान-व्यतिरिक्त समस्त धर्मों का निराकरण है, विज्ञानमात्र का नहीं। यह नैरात्म्यवाद विज्ञप्तिमात्र की स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध सत्ता के आधार पर टिक रहा है, विज्ञप्तिमात्र के अस्तित्व के अपवाद पर नहीं। बुद्धि की प्रत्येक धारणा—खण्डन और मण्डन, निषेध और विधान, निराकरण और स्वीकरण, असिद्धि और सिद्धि आदि सब कुछ—विज्ञप्तिमात्र के आधार पर ही संभव हैं, उसके बिना नहीं।

१६. रूपादि का चक्षुरादिविषयत्व असिद्ध होने से विज्ञप्तिमात्र सिद्ध है। यहाँ प्रतिपक्षी शंका करता है—प्रमाण से ही किसी वस्तु के अस्तित्व या नास्तित्व का निर्धारण किया जाता है। सब प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण सबसे बढ़कर है। यदि बाह्य अर्थ न हों, तो फिर यह ज्ञान कि—'अमुक पदार्थ प्रत्यक्ष है', कैसे हो सकेगा? जैसे, स्वप्न में यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, अतः स्वप्नानुभूत पदार्थों को सत्य नहीं माना जाता क्योंकि स्वप्नानुभूत पदार्थ मनोविज्ञान से ही परिच्छिन्न रहते हैं और चक्षुर्विज्ञान का प्रसार वहाँ नहीं होता। आपका यह कथन कि 'तथाकथित बाह्य पदार्थ भी स्वप्नानुभूत पदार्थों के समान असत् हैं क्योंकि प्रत्यक्ष-ज्ञान दोनों का होता है', सर्वथा असत्य है क्योंकि स्वप्नानुभूत पदार्थों का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता ही नहीं। और स्मृति भी बाह्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध करती है, क्योंकि यदि पदार्थ न हों तो उनकी अनुभूति नहीं होगी और अननुभूत पदार्थों का मनोविज्ञान द्वारा स्मरण भी नहीं हो सकता।

१७. प्रतिपक्षी की शंका ठीक नहीं। अर्थों के बिना ही, अर्थवत् प्रतीत होने वाली, चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञप्ति उत्पन्न होती है। उस विज्ञप्ति से ही, तद्वत् प्रतीत होने वाली मनोविज्ञप्ति, स्मृतिसंस्कार के कारण, उत्पन्न होती है, अतः स्मृति के कारण बाह्य अर्थों की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। प्रतिपक्षी का यह कथन कि यदि जागरितावस्था में भी विज्ञप्ति, स्वप्नावस्था के समान बिना अर्थों के ही होती

हो, तो बाह्य अर्थों का अभाव स्पष्ट प्रतीत होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता, असत्य है। स्वप्नद्रष्टा को स्वप्न के पदार्थों का अभाव प्रतीत नहीं होता। उसके लिये तो वे सत्य ही हैं। जब वह स्वप्नावस्था को छोड़कर जागरितावस्था में आता है, तब उसे स्वप्नदृष्ट पदार्थों के अभाव का ज्ञान होता है, बिना जागे नहीं। इसी प्रकार यह लोक भी मिथ्या विकल्पवासना की निद्रा में प्रगाढ सो रहा है और बाह्य पदार्थरूपी समष्टि-स्वप्न देख रहा है—और जब तक यह स्वप्न है तब तक पदार्थ भी हैं। बिना जागे उसे इन पदार्थों का अभाव प्रतीत नहीं हो सकता। जब वह लोकोत्तर, निर्विकल्प, विशुद्ध ज्ञान का साक्षात्कार करके प्रबुद्ध हो जाता है, तब उसे बाह्य पदार्थों के अभाव का ठीक-ठीक ज्ञान होता है।

२२. मैंने (वसुबन्धु ने) अपनी शक्ति के अनुसार विज्ञप्तिमात्रता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है; किन्तु वास्तव में विज्ञप्तिमात्रता अनिर्वचनीय है—वाणी और बुद्धि के विकल्प उसे पूर्णतया नहीं पकड़ सकते। उसका असली साक्षात्कार तो निर्विकल्प लोकोत्तर बुद्धज्ञान द्वारा ही संभव है।

त्रिंशिका-कारिका

१. आत्मा (जीव) और धर्म (पदार्थ) के विविध उपचार पर टिका हुआ यह लोकव्यवहार विज्ञान का ही परिणाम है। यह परिणाम तीन प्रकार का होता है।

२. विपाक (आलय विज्ञान), मनन (मनोविज्ञान) और विषयविज्ञप्ति (जगत्)। आलयविज्ञान को विपाक कहते हैं क्योंकि उसमें वासनारूप में सब बीज निहित रहते हैं।

५. अर्हत्व प्राप्त होने पर आलयविज्ञान का स्रोत सूख जाता है। जब तक अर्हत्व प्राप्त नहीं होता तब तक आलयविज्ञानधारा निरन्तर चलती रहती है और इसका आश्रय लेकर ही मनन अर्थात् मनोविज्ञान का सन्तान चलता है।

८. यह दूसरा परिणाम है। तीसरा परिणाम है विषयविज्ञप्ति, जिसका अर्थ है छः प्रकार के विषयों की उपलब्धि। वह कुशल, अकुशल और उदासीन—तीन प्रकार की होती है।

१७. सारे बुद्धि विकल्पों की कल्पना करना विज्ञान का ही परिणाम है—विकल्प की वास्तविक सत्ता न होने से, यह सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है।

१९. विषयी और विषय की वासना को साथ लेकर कर्म-वासना ही पूर्व विपाक के क्षीण हो जाने पर अन्य विपाक को उत्पन्न करती रहती है।

२०. जिस-जिस विकल्प से जिस-जिस वस्तु की कल्पना की जाती है, वह सब 'परिकल्पित' है, अतः उसका 'स्वभाव' अर्थात् स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकता।

२१. हेतु-प्रत्यय-सामग्री-जन्य अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पन्न विकल्प को 'परतन्त्र स्वभाव' कहते हैं। परतन्त्र स्वभाव जिस-जिस रूप में प्रतीत होता है, उस-उस रूप से (ग्राह्य-ग्राहकादि द्वैत प्रपञ्च से) सदा और सर्वथा अस्पृष्ट रहनेवाला 'परिनिष्पन्न स्वभाव' है।

२२. इसी लिये परिनिष्पन्न को परतन्त्र से न तो अन्य माना जा सकता है और न अनन्य; क्योंकि जब परिनिष्पन्न ही, अविद्या के कारण, परतन्त्र रूप में प्रतीत होता है तो परतन्त्र परिनिष्पन्न से अन्य नहीं हुआ, और परिनिष्पन्न के परतन्त्ररूपी द्वैत प्रपञ्च से नितान्त अस्पृष्ट रहने के कारण दोनों को अनन्य भी नहीं कहा जासकता। अतः परतन्त्र प्रतीत्यसमुत्पन्न और अनित्य होनें से सद्-सद्विलक्षण और मिथ्या है। यदि परिनिष्पन्नरूपी अधिष्ठान न माना जाय, तो परतन्त्र की प्रतीति भी नहीं हो सकती।

२३. इन तीनों स्वभावों की तीन प्रकार की निःस्वभावता को लक्ष्य करके समस्त धर्मों की निःस्वभावता का प्रतिपादन किया जाता है।

२४. पहला 'परिकल्पित' स्वभाव तो लक्षण से ही 'निःस्वभाव' (स्वतन्त्र-सत्तारहित—नितान्त काल्पनिक) है। दूसरा 'परतन्त्र' स्वभाव 'स्वयं भाव न होने के कारण' (स्वतन्त्र अस्तित्व न रखने के कारण) अर्थात् 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' होने के कारण 'निःस्वभाव' (स्वतन्त्र सत्तारहित) है। तीसरा 'परिनिष्पन्न' स्वभाव परमार्थतः 'निःस्वभाव' (भाव, अभाव आदि प्रपञ्चों से रहित) है।

२५. यह परिनिष्पन्न ही सब धर्मों का परमार्थ है। इसी को तथता भी कहते हैं क्योंकि यह सदा सर्वदा एकरस और नित्य है। इसी को विज्ञप्तिमात्रता कहते हैं।

२६. जब तक, मनोविज्ञान (जीव) विज्ञप्तिमात्र में स्थित नहीं हो जाता, तब तक ग्राह्य-ग्राहकरूपी द्वैत पीछा नहीं छोड़ता।

२७. वास्तव में यह कथन भी कि—'यह परमार्थ ही विज्ञप्तिमात्र है' बुद्धि की धारणा है, तर्क की कोटि है, विकल्प का ग्राह है। योगी इससे ऊपर उठ कर,

मौन होकर, विज्ञप्तिमात्र की साक्षात् अनुभूति करता है। वह बुद्धि के विकल्प को आगे रख कर उसी पर टिका नहीं रहता।

२९. जब इस अचित्त (बुद्धिविकल्पातीत), अनुपलम्भ (तर्क द्वारा अगम्य), लोकोत्तर और अद्वितीय ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है, तब दोनों प्रकार के दौष्ठुल्य (दुःखावरण अर्थात् क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) के नाश से आश्रय (आलयविज्ञान) की व्यावृत्ति हो जाती है—आलयविज्ञान का स्रोत सूख जाता है। यही अर्हत् अवस्था है।

३०. यही परमार्थ है। यही सब प्रकार के आस्रवों (मलों) से रहित, अत्यन्त विशुद्ध धर्मधातु है। यह अचिन्त्य (अनिर्वचनीय) है। यह कुशल (शिव स्वरूप) है। यह ध्रुव (कूटस्थ नित्य) है। यह सुख (परमानन्द स्वरूप) है। यही विमुक्ति (मोक्ष, निर्वाण) है। यही महामुनि भगवान् बुद्ध का धर्मकाय है।

स्थिरमति
त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्य

आचार्य वसुबन्धु ने त्रिंशिका प्रकरण उन लोगों को, जो पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य को नहीं जानते या अन्यथा जानते हैं, पुद्गलनैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य का यथार्थ ज्ञान कराने के लिये लिखा है। इस द्विविध नैरात्म्य-ज्ञान से क्लेशावरण और ज्ञेयावरण नष्ट हो जाते हैं। आत्म-दृष्टि के कारण रागादि क्लेश उत्पन्न होते हैं। पुद्गलनैरात्म्यज्ञान से आत्म-दृष्टि या सत्कायदृष्टि नष्ट हो जाती है और इसके नष्ट होने पर समस्त क्लेश भी नष्ट हो जाते हैं। धर्म-नैरात्म्यज्ञान से ज्ञेयावरण नष्ट होता है। द्विविध आवरणों के नष्ट होने पर मोक्ष और सर्वज्ञत्व की उपलब्धि होती है। क्लेशावरण के नाश से मोक्ष और ज्ञेया-वरण के नाश से सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है, क्योंकि क्लेश मोक्षप्राप्ति के बाधक हैं और ज्ञेयावरण सर्वज्ञत्व का प्रतिबन्धकरूप अक्लिष्ट अज्ञान है जिसके क्षय से ज्ञान की समस्त विषयों में अप्रतिहत और युगपत् प्रवृत्ति हो जाती है।

कुछ लोग विज्ञेय को भी, विज्ञान के समान, पारमार्थिक मानते हैं और कुछ लोग विज्ञान को भी, विज्ञेय के समान, सांवृत मानते हैं। इन दोनों प्रकार के एकान्तवादों को नष्ट करना भी इस प्रकरण में आचार्य को अभीष्ट है।

लोकव्यवहार में आत्मा और धर्मों का उपचार होता है। आत्मा जीव है

और स्कन्ध, धातु तथा आयतन धर्म हैं। परिणाम का अर्थ है अन्यथात्व। कारण-क्षण-निरोध का समकालीन एवं कारणक्षण से विलक्षण जो कार्य का आत्मलाभ है उसको परिणाम कहते हैं। आलयविज्ञान से, आत्मविकल्पवासना और रूपादि विकल्पवासना के पुष्ट होने पर, आत्मा का और धर्मों का आभास उत्पन्न होता है। वास्तव में कोई आत्मा या धर्म नहीं हैं। ये विज्ञान परिणाम ही है। किन्तु अनादि अविद्यावासना के कारण इनको विज्ञानबाह्य मानकर, इनकी स्वतन्त्र सत्ता का उपचार कर लिया जाता है, जैसे बाहीक में गोत्व का। अतः विज्ञान के समान विज्ञेय भी सत्य है—यह एकान्तवाद त्याज्य है। उपचार निराधार नहीं हो सकता, अतः इसका अधिष्ठान विज्ञान को मानना ही पड़ेगा। इसलिये यह एकान्तवाद कि विज्ञान भी विज्ञेय के समान सांवृत है, युक्तियुक्त नहीं है। इस प्रकार इन दोनों एकान्तवादों को छोड़ देना चाहिये, यह आचार्य का वचन है।

बाह्य अर्थों के बिना ही विज्ञान संचिताकार उत्पन्न होता है। परमाणु इसके आलम्बन नहीं हो सकते। यदि परमाणुओं को ही, परस्परापेक्षा से, विज्ञान-विषय माना जाय, तो घड़ा, दीवार आदि आकारभेद विज्ञान में नहीं होना चाहिये क्योंकि परमाणुओं का वैसा आकार नहीं है। अन्यनिर्भास विज्ञान का अन्याकार विषय भी नहीं माना जासकता। और, परमाणु स्वयं परमार्थतः सिद्ध नहीं हैं, क्योंकि उनमें भी आदि-मध्य-अन्त की कल्पना संभव होती है। अतः बाह्यार्थ के अभाव में भी विज्ञान ही अर्थाकार रूप में उत्पन्न होता है, स्वप्नविज्ञान के समान।

समस्त सांक्लेशिक धर्मों के बीजों का स्थान होने के कारण इसका नाम आलय-विज्ञान है। आलय का अर्थ है स्थान। अथवा, सब धर्म इसमें कार्यरूप से निहित रहते हैं, इसलिये इसे आलय कहा जाता है। ज्ञानरूप होने से इसे विज्ञान कहा जाता है। सब लोक, गति, योनि, जाति के शुभाशुभ कर्मों का विपाकस्थल होने से इसे विपाक भी कहते हैं। सब धर्मबीजों का आश्रय होने से इसे सर्वबीजक कहा जाता है। आलय सदा स्पर्श, मनस्कार, अदुःखासुखवेदना, संज्ञा और चेतना—इन पाँच सर्वत्रग धर्मों से अन्वित रहता है। यह एक और नित्य और सर्वव्यापी नहीं है। यह क्षणिक है और स्रोत-प्रवाह के समान बहता रहता है। इसे सन्ततिनित्य कह सकते हैं। जैसे नदी का प्रवाह तृण, काष्ठ, गोमय आदि को बहाता हुआ चलता रहता है, वैसे ही आलय भी शुभाशुभ कर्मवासनाओं के

साथ स्पर्श, मनस्कार आदि को बहाता हुआ निरन्तर चलता रहता है। अर्हत्व की प्राप्ति होने पर आलय का स्रोत सूख जाता है। समस्त शुभाशुभ कर्मवासना और अविद्या के क्षय से ज्ञेयावरण और क्लेशावरण का प्रहाण होने पर आलय-विज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है। वही अर्हत् अवस्था है।

आलयविज्ञान को न मानने पर संसार-निवृत्ति संभव नहीं हो सकती। क्लेश और कर्म संसार के कारण हैं। इनके नाश होने पर ही संसारनिवृत्ति संभव है, अन्यथा नहीं। आलयविज्ञान के बिना इनका नाश संभव नहीं।

जिस-जिस विकल्प से बुद्धधर्म तक जो-जो वस्तु—चाहे आध्यात्मिक, चाहे बाह्य कल्पित होती है, वह सब परिकल्पित है। स्वतन्त्र सत्ता के अभाव से वह विद्यमान नहीं कही जासकती। तीनों लोकों के कुशल, अकुशल और अव्याकृत चित्त-चैत्त परिकल्पित हैं।

पर अर्थात् हेतु-प्रत्यय से जो उत्पन्न हो, वह परतन्त्र है—उसकी वास्तविक उत्पत्ति नहीं है।

अविकृत होने से परिनिष्पन्न कहा जाता है। परतन्त्र का ग्राह्यग्राहक विकल्प से सर्वदा अत्यन्त रहित होना परिनिष्पन्न है। यदि परिनिष्पन्न परतन्त्र से अन्य हो, तो परिकल्पित और परतन्त्र में कोई भेद न रहे और परतन्त्र की प्रतीति भी न हो। यदि अनन्य हो, तो परिनिष्पन्न संक्लेशात्मक और परतन्त्र विशुद्ध हो जाय। आकाश के समान एकरस ज्ञान को परिनिष्पन्न कहते हैं। आकाशवत् निर्विकल्प ज्ञान से सब धर्मों को देखना परतन्त्र धर्मों के अधिष्ठानभूत तथता-ज्ञान को देखना है।

परिकल्पित लक्षण से ही निःस्वभाव (सत्तारहित) है, स्वरूप के अभाव के कारण, खपुष्प के समान। परतन्त्र की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, क्योंकि परप्रत्यय से उत्पन्न होने से यह माया है। अतः इसकी उत्पत्तिनिःस्वभावता है। परम का अर्थ है लोकोत्तर ज्ञान। लोकोत्तर ज्ञान का अर्थ हुआ परमार्थ। अथवा, आकाश के समान, सर्वत्र एकरस, विमल, अविकृत होने से परिनिष्पन्न को परमार्थ कहा जाता है। वह सब परतन्त्र धर्मों का अधिष्ठान होने से परमार्थ कहा जाता है। अतः परिनिष्पन्न ही की परमार्थनिःस्वभावता है। सर्वदा एक सा रहने से, अविकृत रहने से इसे 'तथता' कहा जाता है। यही विज्ञप्तिमात्रता है।

जब तक इस अद्वय विज्ञप्तिमात्र में योगी का चित्त प्रतिष्ठित नहीं होता, तब तक ग्राह्यग्राहकविकल्प का प्रहाण नहीं होता। जो अभिमानी, सुनकर ही, यह कहने लगे कि 'मैं विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र में स्थित हूँ' उसका निराकरण करने के लिये आचार्य ने कहा है कि 'यह विज्ञप्तिमात्र है' ऐसा कथन भी उपलंभ है। ग्राह्याभाव होने पर ग्राहकाभाव भी हो जाता है। ग्राह्यग्राहक विकल्प के छूटने पर निर्विकल्प, लोकोत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है और स्वचित्तधर्मता में चित्त स्थित हो जाता है। कहा भी है—'बुद्धि के विकल्पों से ऊपर उठ कर जब योग-भावना से धर्मधातु का साक्षात्कार होता है, तब सब आवरणों का क्षय होकर विभुत्व प्राप्त होता है।'

यह विज्ञप्तिमात्र ग्राह्यग्राहकविकल्पातीत होने से अचित्त है। लोकोपचार के अभाव से अनुपलंभ है। निर्विकल्प होने से लोकोत्तर ज्ञान है। क्लेशज्ञेयावरण प्रहाण से आश्रयरूपी आलयविज्ञान व्यावृत्त हो जाता है। मलरहित होने से अनास्रव है। आर्यधर्महेतु होने से धातु है। तर्कातीत होने से और प्रत्यात्मवेद्य होने से अचिन्त्य है। विशुद्धालम्बन होने से, अनास्रव धर्ममय होने से और कल्याणकारी होने से कुशल है। अक्षय और नित्य होने से ध्रुव है। नित्य होने से ही सुखरूप है। जो अनित्य है, वह दुःखरूप है। यह नित्य है, अतः सुख रूप है। क्लेशावरणप्रहाण से विमुक्तिकाय है। क्लेशज्ञेयावरणप्रहाण से आलय परावृत्तिलक्षण धर्म है। महामुनि का धर्मकाय कहा जाता है। संसार के परित्याग से, संक्लेश से अस्पृष्ट होने से, सर्वधर्मविभुत्वप्राप्ति से धर्मकाय है। परममौनेय के योग से बुद्ध भगवान् महामुनि हैं।

पञ्चम परिच्छेद

स्वतन्त्रविज्ञानवाद

दिङ्नाग

(१) प्रमाण–समुच्चय

प्रमाणभूत, जगद्धितैषी, शास्ता, तायी, सुगत को प्रणाम करके प्रमाणों की सिद्धि के लिये अपनी बिखरी हुई कृतियों को एकत्रित कर रहा हूं।

प्रमाण दो प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष निर्विकल्प और नाम, जाति आदि से अस्पृष्ट होता है। अविनाभावनियम या व्याप्ति के ज्ञान से अनुमान होता है। लिंग या हेतु का अनुमेय में सत्व होना चाहिये, सपक्ष में सत्व होना चाहिये और विपक्ष में असत्व होना चाहिये। स्वदृष्ट अर्थ को दूसरों को बताना परार्थानुमान है।

यह सब अनुमानानुमेय भाव सामान्यलक्षण होने के कारण व्यावहारिक है—बुद्धि–निश्रित धर्मधर्मिभाव के बाहर इसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न नहीं उठता।

(२) आलम्बन–परीक्षा

१. यद्यपि ग्राह्यांश इन्द्रिय–विज्ञप्ति का कारण है, तथापि इन्द्रियवत् ग्राह्यांश विज्ञप्ति का विषय नहीं हो सकता क्योंकि विज्ञप्ति किसी बाह्य धर्म का आभास नहीं है।

६. रूपादिविज्ञप्ति ही अर्थाकार बन कर बाह्यपदार्थवत् प्रतीत होती है। वास्तव में कोई बाह्य अर्थ नहीं है। विषयविज्ञप्ति ही विज्ञान का ग्राह्यभाग है और उसका प्रत्यय है।

७. विषयविज्ञप्ति रूपी ग्राह्यभाग विज्ञान के ग्राहकभाग के साथ अविनाभाव-नियम से रहने के कारण और क्रम से शक्ति अर्पण करने के कारण उसका प्रत्यय बन जाता है। विज्ञान की सहकारिणी शक्ति ही इन्द्रिय है।

धर्मकीर्ति

(१) न्यायबिन्दु

सम्यक् ज्ञान से ही सब पुरुषार्थों की सिद्धि होती है, अतः उसका विवेचन किया जाता है। सम्यक् ज्ञान दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष कल्पनापोढ और अभ्रान्त है। बुद्धिजन्य अभिलापिनी प्रतीति को कल्पना कहते हैं। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। जिस अर्थ के समीप या दूर होने पर ज्ञान के प्रतिभास में भेद हो, वह स्वलक्षण है। वही परमार्थ सत् है। वस्तु का लक्षण अर्थक्रियासामर्थ्य है। स्वलक्षण से भिन्न सब सामान्यलक्षण है। वह अनुमान का विषय है। अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थ और परार्थ। त्रिरूप लिंग द्वारा अनुमेयज्ञान अनुमान है। त्रिरूप है—लिंग का अनुमेय में सत्व, सपक्ष में सत्व और विपक्ष में असत्व। इस ज्ञान को दूसरों को समझाना परार्थानुमान है।

(२) प्रमाणवार्तिक

१, १. कल्पनातीत, गंभीर और उदार मूर्तिवाले, सब ओर प्रकाशमान, परम कल्याणकारी भगवान् बुद्ध को नमस्कार है।

१, ८८. स्वलक्षण नामक पारमार्थिक अर्थों में संयोग-वियोग नहीं होते। उनके विषय में एक और अनेक की कल्पना बुद्धि का उपप्लव मात्र है।

१, ९३. शब्द संकेतित पदार्थ को बतलाते हैं। व्यवहार के लिये उसे पदार्थ कहा जाता है। वास्तव में वह स्वलक्षण नहीं है, क्योंकि स्वलक्षण तक संकेत की पहुंच नहीं।

१, १३६. शब्द और बुद्धि की पहुंच 'वस्तु' तक नहीं हो सकती। वस्तु एक है। वहाँ मति-प्रपञ्च नहीं चलता।

१, १६७. जो अर्थक्रिया में समर्थ है, वही परमार्थ सत् है।

१, २२४. सत्काय या आत्मदृष्टि से सत्व दोष होते हैं। यह अविद्या है। अविद्यामोह से रागद्वेषादि उत्पन्न होते हैं।

१, २४१. कर्ताओं का स्मरण न रहने से ही वेद को अपौरुषेय कहने वाले भी हैं! इस व्यापक अज्ञानान्धकार को धिक्कार है!

१, ३१७. जिसके वचन प्रामाणिक हों, उसके उपदेशों को आगम कहते हैं। अपौरुषेयता मानने की क्या आवश्यकता?

२, ३२. उपायसहित जो हेय और उपादेय तत्व को जाने वही प्रमाण है, सर्वज्ञ नहीं।

२, ३३. चाहे दूरदर्शी हो या न हो, इष्ट तत्वदर्शी होना चाहिये। यदि दूर-दर्शी को ही प्रमाण माना जाय, तो चलिये गिद्धों की उपासना करें।

२, २०४. जो अनित्य नहीं है, वह किसी का हेतु-प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि विद्वान् उसी को नित्य कहते हैं जो कभी विकृत न हो। अतः अनित्य मानने पर ही सांसारिक धर्म सिद्ध होंगे।

३, ३. जो अर्थक्रियासमर्थ है, वही परमार्थ सत् है। अन्य सब संवृतिसत् है। ये स्वलक्षण और सामान्यलक्षण कहे जाते हैं।

३, २०९. विद्वान् लोग कहते हैं कि पदार्थों का स्वरूप ही ऐसा है कि जितना उनका चिन्तन किया जाय उतना ही उनका विशरण होता जाता है।

३, २२४. हेतुभाव के बिना ग्राह्यता नहीं हो सकती। अर्थाकार बुद्धि की उत्पत्ति विज्ञान के ग्राह्यांश से होती है।

३, २१५. ग्राह्य-ग्राहकाकार के बाहर लक्षण नहीं हो सकता। अतः लक्षण-शून्य होने से धर्मों को निःस्वभाव कहा गया है।

३, २१३. ग्राह्य या ग्राहक में से किसी एक के न रहने पर दूसरा भी नहीं टिक सकता, क्योंकि दोनों सापेक्ष हैं। तत्व अद्वय है।

३, २१९. हाथी की तरह आँखें मूँद कर, तत्व की उपेक्षा करके, केवल लोक-व्यवहार के कारण, बाह्य पदार्थों का वर्णन किया जाता है।

३, २८१. योगियों का भावनामय ज्ञान कल्पनातीत होकर स्पष्ट प्रतीत होता है।

३, ३५४. मिथ्यादर्शन वाले पुरुषों को अद्वय विज्ञान भी ग्राह्य-ग्राहक-संवित्ति के कारण भेदवान्-सा प्रतीत होता है।

३, ५५५. जैसे, मंत्रादि के कारण जिनकी आँखें बँध गई हैं उन पुरुषों को जादूगर के मिट्टी के टुकड़े भी सिक्के दिखाई देते हैं।

४, ५३-५४. यह किसने कहा है कि प्रत्येक बात में शास्त्र की ही शरण लो? कौन असिद्धान्ती कहता है कि धूम से अग्नि का अनुमान मत करो?

४, २८६. मेरे इस ग्रन्थ में अल्प बुद्धि वालों की तो गति ही नहीं है, किन्तु बड़े बड़े विद्वान् भी इसका असली अर्थ नहीं समझ पावेंगे। मेरा मत, संसार में

अपने समान प्रतिग्राहक न पाकर, समुद्र के जल को तरह, अपने कलेवर में ही वृद्ध हो जायगा।

शान्तरक्षित

तत्वसंग्रह

१–६. उपदेशकों में श्रेष्ठ, परम शास्ता, सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध को प्रणाम करके मैं इस 'तत्वसंग्रह' की रचना करता हूँ—उन भगवान् को जो किसी प्रकार की स्वतन्त्र श्रुति को नहीं मानते, अनल्प और असंख्य कल्पों तक परमकरुणा ही जिनकी आत्मा है, और जिन्होंने लोककल्याण करने के लिये प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश दिया है—उस प्रतीत्यसमुत्पाद का जो प्रकृति, ईश्वर, प्रकृति और ईश्वर, आत्मा आदि के व्यापार से रहित है; जो चल (गतिशील–क्षणिक) है, जिसमें कर्म और उसके फल की सम्यक् व्यवस्था है; जो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और समवाय आदि उपाधियों से रहित है; जो केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही शब्दगोचर है (वस्तुतः वाणी और बुद्धि से अगम्य है); स्पष्ट लक्षण वाले प्रत्यक्ष और अनुमान नामक दोनों प्रमाणों से निश्चित है; जिसमें अन्य किसी वस्तु का तनिक भी मिश्रण नहीं है; जो कहीं नहीं जाता; जिसका कोई आदि–अन्त नहीं है; जो प्रतिबिम्ब आदि के समान है; जो समस्त प्रपञ्च–समूह से मुक्त है; और जिसे अन्य लोग नहीं जानते।

प्रकृति–परीक्षा: ७. सारी शक्तियों से युक्त प्रकृति से ही ये सब कार्य–प्रपञ्च प्रसारित होते हैं; वास्तव में ये सब प्रकृति–रूप ही हैं। यह सांख्य मत है, जो सत्कार्यवाद को मानता है।

१७. किन्तु यदि दही आदि उत्पत्ति–पूर्व ही दूध आदि में स्थित हैं, तो वे पहले से ही 'विद्यमान' हैं, अतः कार्य और कारण में कोई भेद न होने से, उनकी पुनरुत्पत्ति वृथा है। फिर तो दूध को ही दही कहना चाहिये।

१९–२०. यदि यह कहा जाय कि कारण में 'अभिव्यक्तिसामर्थ्य' नामक एक विशेषता है जिसके कारण सत्कार्यवाद दूषित नहीं होता (कार्य, कारण में अनभिव्यक्त रूप से रहता है और उत्पत्ति होने पर उसकी अभिव्यक्ति होती है, अतः उत्पत्ति और अभिव्यक्ति एक ही बात है), तो हम पूछते हैं—क्या यह विशेषता कारण में पहले से ही थी या बाद में हुई; यदि पहले से ही थी, तो कारण और

विशेषता में कोई अन्तर नहीं और हमारा आक्षेप जैसे का तैसा ही स्थित है—उसका निराकरण नहीं हुआ; और यदि यह विशेषता पहले नहीं थी, तो 'असत्' थी, और सांख्य के अनुसार 'असत्' की उत्पत्ति संभव नहीं।

२९. यदि यह कहा जाय कि अनभिव्यक्त कार्य की कारण द्वारा अभिव्यक्ति होती है, तो हम पूछते हैं कि इस अभिव्यक्ति का क्या अर्थ है? अभिव्यक्ति का अर्थ 'अतिशयोत्पत्ति' नहीं हो सकता, क्योंकि कार्यकारणतादात्म्य मानने से ऐसा कहना असंगत होगा और इस अतिशयोत्पत्ति के लिये अन्य अतिशयोत्पत्ति की अपेक्षा होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आयगा।

३२. हमारे सत्कार्यवाद के खण्डन से यह न समझना चाहिये कि हम असत्कार्यवादी हैं। हम दोनों वादों को नहीं मानते। वस्तुतः उत्पत्ति का अर्थ है 'वस्तु भाव' अर्थात् वस्तुओं का क्षणमात्र अवस्थायी स्वभाव। यह स्वभाव न 'सत्' कहा जा सकता है और न 'असत्'। यह केवल बुद्धि का विकल्प है जो वस्तुतः मिथ्या है।

४१. पुनश्च, यदि इस कार्य-जगत् को त्रिगुणात्मक और अभिव्यक्त मान भी लिया जाय, तो भी यह सिद्ध नहीं हो पाता कि इसकी अभिव्यक्ति एक, नित्य और एक सामान्य गुण वाली प्रकृति से हुई है।

४५. प्रकृति को कारण न मानने पर भी, यह सारा कार्यकारण आदि लोक-वैचित्र्य, शक्ति-भेद के कारण, प्रतिपादित किया जा सकता है।

ईश्वर-परीक्षा : ४६. कुछ अन्य लोग ईश्वर को इस जगत् की उत्पत्ति का कारण मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार अचेतन प्रकृति अपने आप जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकती।

७२. किन्तु नित्य, एक, सर्वज्ञ और नित्य ज्ञान का आश्रय ईश्वर सिद्ध नहीं हो पाता क्योंकि यहां व्याप्ति साध्यविकल होने से दूषित है।

८०. यदि यह सामान्य कथन अभीष्ट हो कि—इस जगत् की उत्पत्ति केवल जड पदार्थ से नहीं हो सकती, इसके लिये चेतन की अपेक्षा है—तो यह हमें भी मान्य है, क्योंकि हम लोकवैचित्र्य को कर्मज मानते हैं और कर्म चेतन द्वारा ही संभव है।

८७. किन्तु हम ईश्वर को कारण नहीं मानते, क्योंकि स्वयं ईश्वर की सत्ता ही सिद्ध नहीं है। अतः ईश्वर को जगत्-कारण मानने से या तो यह जगत्

खपुष्पवत् हो जायगा और या सब पदार्थों की युगपत् उत्पत्ति माननी पड़ेगी।

ब्रह्म परीक्षा : १४४. यदि ब्रह्म तत्व को स्वतः अद्वय और अविभाग मान कर, यह माना जाय कि अविद्या के विक्षोभ के कारण लोग इस अद्वय ब्रह्म को सप्रपञ्च जगत् के रूप में देखते हैं, तो यह ठीक नहीं।

१४७. क्योंकि यह ब्रह्म की अविभागता प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होती और न अनुमान से सिद्ध हो सकती है, क्योंकि नित्य से उत्पत्ति कभी संभव न होने से, यहाँ अनुमान के लिये कोई हेतु नहीं है।

१४९-१५०. ज्ञेयपदार्थों के क्रम से ज्ञान भी क्रमशः होता है, अन्यथा प्रत्येक ज्ञान को एक साथ सर्वज्ञ मानना पड़ेगा। क्षणिक विज्ञान में ही अर्थक्रिया सामर्थ्य होता है और यह क्षणिक विज्ञान क्रमशः होता है। अतः ब्रह्म बन्ध्यापुत्र के समान असत् है।

पुरुष परीक्षा : १५३. दुष्ट सिद्धान्त को मानने वाले कुछ अन्य व्यक्ति ईश्वर के समान धर्मवाले पुरुष को जगत्-कारण मानते हैं।

१५४. सारे संसार का प्रलय हो जाने पर भी, इस पुरुष की ज्ञान-शक्ति लुप्त नहीं होती। जैसे मकड़ा, अपने शरीर से ही तन्तु निकाल कर, जाला बुनता है, वैसे ही यह पुरुष भी, अपने शरीर से ही, समस्त जगत् को उत्पन्न करता है।

१५५. इस पुरुष का खण्डन भी, पूर्वोक्त ईश्वर-खण्डन के समान, समझ लेना चाहिये। यह पुरुष किस लिये यह सृष्टि-व्यापार करता है?

१५६. यदि यह अन्यप्रयुक्त है, तो स्वतन्त्र नहीं हो सकता। यदि दयावश सृष्टि रचता है, तो इसे जगत् को अत्यन्त सुखी बनाना चाहिये।

१५७. किन्तु यह जगत् तो आधि, व्याधि, दारिद्रय, शोक आदि विविध दुःखों से पीडित है; ऐसे संसार को रचने में पुरुष की कौन सी दया प्रतीत होती है?

१५८. और फिर सृष्टि के पूर्व तो कोई प्राणी हैं नहीं जिन पर अनुकम्पा की जाय। उनके अभाव में अनुकम्पा का अभाव हुआ, जिस अनुकम्पा के आधार पर इस पुरुष को सृष्टिकर्ता माना जाता है।

१६१. यदि क्रीडा या लीला के लिये यह सृष्टि करता हो, तो यह अपनी क्रीडा का स्वामी नहीं हो सकता, क्योंकि फिर इसे, एक खेलने वाले बालक के समान, क्रीडा के विविध साधनों पर निर्भर रहना पड़ेगा।

१६४-१६५ यदि सृष्टि को इसका 'स्वभाव' माना जाय, जैसे दाह पाक आदि कर्मों को अग्नि का स्वभाव माना जाता है, तो फिर सारी सृष्टि एक साथ होनी चाहिये, क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति में समर्थ स्वभाव सदा वहाँ विद्यमान है।

१६८. मकड़ा भी स्वभाव से ही जाला नहीं बुनता। जाला बुनने का कारण है—मकड़े के मुँह की लार, जो कीड़े मकोड़ों को खाने की लालसा के कारण निकलती है।

१६९. यदि यह पुरुष वैसे ही निष्कारण सृष्टि रचता हो, तो इसमें इसकी बुद्धिमानी, इसकी ज्ञान-शक्ति, कैसे प्रतिपादित होगी? बिना सोचे समझे तो साधारण मल्लाह जैसा व्यक्ति भी कोई काम नहीं करता।

१७०. इसी प्रकार विष्णु, ब्रह्मा, शिव आदि को जो जगत्-कारण मानते हैं, उनके मतों का भी खण्डन हो जाता है।

आत्म-परीक्षा :

(क) न्यायमत का खण्डन : १७१. कुछ अन्य लोग आत्मा को नित्य, सर्वव्यापी, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न आदि गुणों का आश्रय, किन्तु स्वतः अचित् मानते हैं।

१७३. ज्ञान के सम्बन्ध से आत्मा ज्ञाता, प्रयत्न आदि के सम्बन्ध से कर्ता और सुख, दुःख आदि के सम्बन्ध से भोक्ता बनता है।

१९१-१९२. किन्तु यदि बुद्धि, इच्छा आदि का कोई न कोई आश्रय मानना आवश्यक भी हो, तो भी नित्य और गतिशून्य आत्मा को आधार मानना निष्फल है।

२०४. अहंकार के आश्रय के कारण चित्त को 'आत्मा' कहा जाता है। किन्तु यह व्यावहारिक है; वस्तुतः आत्मा नामक कोई नित्य वस्तु नहीं है।

२१२-२१३. स्वसंवेदन के कारण आत्मा को प्रत्यक्ष-सिद्ध मानने पर भी, उसका नियत्व और विभुत्व सिद्ध नहीं होता।

२१७. बुद्धि, इच्छा आदि को समवाय सम्बन्ध से आत्मा पर निर्भर नहीं माना जा सकता, क्योंकि बुद्धि, इच्छा आदि क्षणिक होने से बीज-अंकुर-लता के समान क्रमशः उत्पन्न होती हैं।

(ख) मीमांसामत का खण्डन : २२२. अन्य लोग आत्मा को चैतन्यरूप

और व्यावृत्ति-अनुगमात्मक (भेदाभेदस्वरूप) मानते हैं, तथा चैतन्य को बुद्धि का लक्षण मानते हैं।

२४१. किन्तु चैतन्य को एक और नित्य मानने पर तद्रूप बुद्धि को भी एक और नित्य मानना पड़ेगा।

२५३. यदि बुद्धि सदा नित्य और सब पदार्थों को जानने वाली है, तो फिर हम सब बुद्धिमान् व्यक्ति सर्वज्ञ क्यों नहीं हैं ?

२७२. यदि कर्तृत्व और भोक्तृत्व, प्रयत्न आदि और सुख दुःख आदि अवस्थाओं पर निर्भर नहीं हैं, तो इन अवस्था वाले आत्मा को कर्ता और भोक्ता नहीं कहा जा सकता। और यदि निर्भर हैं, तो अवस्थाओं और आत्मा में कोई अन्तर नहीं होगा।

२७३ अतः हम आत्मा के नित्यत्व का खण्डन करते हैं, क्योंकि आत्मा के स्वरूप में विकार होने के कारण उसका विनाश होता रहता है।

२७४. सर्प के कभी सीधे और कभी गोल होने की तरह आत्मा को स्वरूपतः अविकारी और गुणतः विकारी मानने से भी काम नहीं चलेगा, क्योंकि सर्प क्षणिक होने से सीधी या गोल अवस्था को प्राप्त होता है। जो नित्य है, उसमें विकार संभव नहीं।

२७५. वास्तव में आत्मा अहंकार के अतिरिक्त कुछ नहीं है और यह अहंकार, अनादि अविद्याजन्य आत्म-दृष्टि-वासना के कारण, निरालम्ब ही चलता रहता है। यह बन्धनावस्था में ही चलता है, मोक्षावस्था में नहीं।

(ग) सांख्यमत का खण्डन : २८५. अन्य लोग बुद्धि से भिन्न चैतन्य को आत्मा का निज स्वरूप मानते हैं।

२८६. प्रकृति द्वारा उपस्थित कर्म-फल का आत्मा भोग करता है। आत्मा में कर्तृत्व नहीं है, कर्तृत्व प्रकृति में ही है।

२८८. किन्तु नित्य और एकरूप चैतन्य में विविध पदार्थों का भोक्तृत्व कैसे संभव हो सकता है ?

२९१. यदि आत्मा शुभाशुभ कर्मों का कर्ता नहीं है, तो वह उनके फलों का भोक्ता कैसे हो सकता है ?

२९२. यह कथन भी ठीक नहीं कि प्रकृति-पुरुष में अंध-पंगु सम्बन्ध है

और पुरुष की अभिलाषा के अनुरूप फलों को प्रकृति उसके भोग के लिये उपस्थित करती है।

२९४. यदि आत्मा में अर्थोपभोग के समय विकार न हो, तो उसका भोक्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता और प्रकृति उसका कोई उपकार नहीं कर सकती।

२९५. और यदि आत्मा में विकार होता हो, तो उसका नित्यत्व नष्ट हो जायगा। विकार का अर्थ है अन्यथभाव और नित्य स्वभाव का अन्यथा भाव हो नहीं सकता।

२९७–२९८. यदि यह कहा जाय कि स्वयं आत्मा भोग नहीं करता, क्योंकि वह अपने स्वरूप को कभी नहीं छोड़ता, किन्तु बुद्धि में स्थित अपने प्रतिबिम्ब को ही अपना स्वरूप समझ कर, वह भोग करता सा प्रतीत होता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि प्रतिबिम्ब के साथ आत्मा का तादात्म्य है, तो आत्मा भी प्रतिबिम्ब के समान अनित्य है और यदि तादात्म्य नहीं है, तो आत्मा भोक्ता नहीं हो सकता।

३०५. यदि चैतन्य को ही आत्मा कहा जाय, तो इसमें हमें कोई विवाद नहीं है। हम तो केवल यही कहते हैं कि उसका नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि फिर सब इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जाँयगी।

३००. और फिर सांख्य के इस कथन से कि 'प्रकृति विविध व्यञ्जन बनाना तो जानती है, किन्तु उनका उपभोग करना नहीं जानती', बढ़ कर और क्या अयुक्त बात हो सकती है ?

(घ) जैनमत का खण्डन : ३११. मीमांसकों के समान जैन भी आत्मा को चिद्रूप तथा द्रव्य और पर्याय के भेद से, एक और अनेक, नित्य और अनित्य, अविकृत और विकृत मानते हैं।

३१७–३१८. किन्तु यदि द्रव्य और पर्याय वास्तव में अभिन्न हैं, तो द्रव्य को पर्यायों के समान, अनेक, अनित्य, विकृत मानना पड़ेगा; और पर्यायों को द्रव्य के समान, एक, नित्य और अविकृत मानना पड़ेगा।

३२१. यदि द्रव्य और पर्याय वास्तव में भिन्न हैं, तो दोनों साथ साथ आत्मा में नहीं रह सकते। अतः या तो अनित्यत्व ही मानिये या नित्यत्व।

(ङ) उपनिषद्वादो के मत का खण्डन ३२८. यह पाञ्च-भौतिक

जगत् नित्य ज्ञान का विवर्त मात्र है और आत्मा नित्य ज्ञान स्वरूप है—ऐसा कुछ लोग मानते हैं।

२२९. बुद्धि-ग्राह्य विषयों की वास्तविक सत्ता नहीं है, अतः यह सब दृश्यमान जगत् विज्ञान का परिणाम है।

२३०. इन दार्शनिकों के मत में बहुत थोड़ा दोष है, और वह यही है कि ये लोग विज्ञान को नित्य मानते हैं। विज्ञान नित्य नहीं हो सकता क्यों कि रूप, शब्द आदि के विज्ञान में स्पष्ट ही भेद और अनित्यत्व प्रतीत होता है।

२३३. यदि ज्ञान नित्य और एकरस हो, तो सम्यक् और मिथ्या ज्ञान का भेद सिद्ध नहीं होगा, और फिर बन्ध तथा मोक्ष भी सिद्ध नहीं होंगे।

२३५. नित्य और एकरस होने से तत्वज्ञान भी उत्पन्न नहीं होगा, और तब यह सब योगाभ्यास व्यर्थ हो जायगा।

(च) वात्सीपुत्रीय बौद्धमत का खण्डन २३६. अपने आपको बौद्ध मानने वाले कुछ लोग भी पुद्गल के बहाने आत्मा को मानते हैं और उसे पञ्च-स्कन्धों से न तो भिन्न मानते हैं और न अभिन्न।

२३८. इन लोगों को समझ लेना चाहिये कि पुद्गल की सत्ता पारमार्थिक नहीं है। सदसदनिर्वचनीय होने के कारण पुद्गल आकाश-कमल के समान हैं।

२३९. वस्तु या तो 'सत्' होगी या 'असत्'। जो सदसद्विलक्षण है, वही अवाच्य है और वही मिथ्या है।

२४७. सत्ता का लक्षण है अर्थक्रियासामर्थ्य और यह क्षणिक पदार्थों में ही है। अतः अवाच्य में वस्तुता नहीं हो सकती।

२४८. यदि यह कहो कि स्वयं भगवान् बुद्ध ने पुद्गल के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है और इसलिये पुद्गल को न मानने पर आगम-विरोध होता है, तो यह ठीक नहीं, क्यों कि महात्माओं ने (आचार्य वसुबन्धु आदि ने) यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि दयावान् भगवान् ने नास्तिक्य का निराकरण करने के लिये पुद्गल का उपदेश दिया है, किन्तु वास्तविक उपदेश पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य है।

स्थिरभाव परीक्षाः २५७. समस्त संस्कृत पदार्थ अनित्य होने के कारण अपने विनाश की अपेक्षा नहीं रखते—उत्पत्ति के बाद उनका नाश होता ही रहता

है। कोई उनका नाशक हेतु नहीं है, क्योंकि किसी में यह सामर्थ्य नहीं। उनका तो स्वतः ही स्वाभाविक विनाश होता है।

३७५. क्षणस्थायी भाव को ही विनाश कहते हैं।

३७७. अतः समस्त संस्कृत पदार्थ, स्वाभाविक विनाश के कारण, नित्य नहीं हो सकते।

३७६. विनाश नामक कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें 'वस्तु की उत्पत्ति के अनन्तर होने का गुण' रहता हो; वस्तुओं का क्षणिकत्वस्वभाव ही विनाश कहलाता है और यह वस्तुओं के साथ ही उत्पन्न होता है।

३८८. उत्पत्ति के अनन्तर ही नष्ट होने का जो वस्तुओं का स्वरूप है, वही 'क्षण' कहा जाता है, और जिसका यह स्वरूप है, उस वस्तु को 'क्षणिक' कहा जाता है।

३८९. वास्तव में 'क्षण' और 'क्षणिक' में कोई अन्तर नहीं है, क्यों कि कोई ऐसी 'वस्तु' नहीं है जो क्षणिक हो—केवल क्षणसन्तति ही चलती रहती है, फिर भी व्यवहार में 'क्षण' और 'क्षणिक वस्तु'—ये शब्द प्रयोग किये जाते हैं, क्योंकि शब्दों का प्रयोग वक्ता की इच्छा पर निर्भर होता है।

३९६–४०३. उत्पत्ति का अर्थ अर्थक्रियासामर्थ्य है और यह सामर्थ्य क्षणिक वस्तुओं में ही होता है, नित्य में नहीं। यदि पदार्थों को नित्य माना जाय तो जगत् की उत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि स्थिर पदार्थों में क्रमशः अर्थक्रिया की शक्ति सिद्ध नहीं होती। यदि नित्य पदार्थ के, क्रम वाले सहकारी माने जाँय, जिनकी अपेक्षा से नित्य पदार्थ क्रमशः इस कार्य-प्रपञ्च को जन्म दे सके, तो प्रश्न यह है कि क्या ये सहकारी नित्य वस्तु के अर्थक्रियासामर्थ्य के कारण हैं अथवा नित्यवस्तु से होने वाली अन्य पदार्थों की उत्पत्ति में सहायक होने के कारण सहकारी कहे जाते हैं? यदि इन सहकारियों को नित्य वस्तु के अर्थक्रियासामर्थ्य-का कारण माना जाय, तो ये स्वयं ही नित्य वस्तु के भी कारण बनेंगे और वह नित्य वस्तु इनके द्वारा ही उत्पन्न होनी चाहिये क्योंकि अर्थक्रियासामर्थ्य इन्हीं में है, और नित्य वस्तु, सदा विद्यमान रहने से, उत्पन्न हो नहीं सकती। अतः यदि ये अतिशय रूप सहकारी उस वस्तु को भी उत्पन्न करते हैं, तो वह वस्तु नित्य नहीं रहती (उत्पन्न होने के कारण अनित्य है), और यदि ये सहकारी उस वस्तु से भिन्न हैं, तो वह वस्तु अन्य पदार्थों की उत्पत्ति का कारण नहीं मानी जा

सकती। फिर अतिशय की सत्ता से पदार्थों की उत्पत्ति और अतिशय के अभाव में अनुत्पत्ति होने से इस अतिशय को ही कारण मानना पड़ेगा, न कि उस नित्य वस्तु को जिसमें यह अतिशय माना जाता है। यदि इस अतिशय के सम्बन्ध के कारण उस नित्य वस्तु को भी कारण माना जाय, तो इनमें सम्बन्ध कौन सा है? तादात्म्य सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, अन्यथा पूर्वोक्त दोष आँयगे। अथवा फिर सब कार्यों को एक साथ उत्पन्न होना चाहिये। और यदि ये भिन्न हैं तो, इस अतिशय को नित्य वस्तु से सम्बन्धित करने के लिये एक दूसरा अतिशय चाहिये और इस दूसरे के लिये तीसरा और इस प्रकार अनवस्था दोष आता है। अतः इनका कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता और सम्बन्ध के अभाव में नित्य वस्तु से कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता।

कर्मफल सम्बन्ध परीक्षा ४७९ यदि कर्मों का कर्ता और उनके फलों का भोक्ता एक नित्य आत्मा नहीं हो, तो कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम दोष दुर्निवार हैं, अर्थात् जिसने कर्म किये थे, वह उनका फल नहीं भोगता और जिसने वे कर्म नहीं किये, वह उनका फल भोगता है।

५०२-५०३ ये शङ्कायें निर्मूल हैं। क्षण सन्तति में कारणक्षण नष्ट होने के पहले ही कार्यक्षण को अपनी शक्ति दे देता है, जैसे बीज, नष्ट होने के पहले ही, अपनी शक्ति अङ्कुर को दे देता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षणसन्तति में भी यही होता रहता है। प्रत्येक क्षण में एक सी शक्ति नहीं होती। जिस कारण से जो कार्य उत्पन्न होता है, उसे उत्पन्न करने की शक्ति उस कारण में ही होती है। अतः जिस किसी कारण में जिस किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, वह कारण उस शक्ति द्वारा साक्षात् या परम्परा से उस कार्य को उत्पन्न करता है। इसी कारण कर्मों और उनके फलों का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

५०४. क्षणसन्तति के 'ऐक्य' के कारण 'कर्ता' और 'कर्तृत्व' का व्यवहार होता है। यह सब कल्पना है; वस्तुस्थिति नहीं।

५१२. प्रथम क्षण में उत्पन्न होने वाले और अभी तक अविनष्ट शक्तिमान कारण से द्वितीय क्षण में ही कार्य उत्पन्न होता है।

५१३-५१४. यदि कार्योत्पाद तृतीय क्षण में माना जाय, तो विनष्ट कारण से कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि कारण तो प्रथम क्षण में उत्पन्न हो कर

द्वितीय क्षण में नष्ट हो जाता है। और यदि कार्योत्पाद प्रथम क्षण में माना जाय, तो कारण और कार्य दोनों की उत्पत्ति एक साथ माननी पड़ेगी।

५२०-५२१. जो आनन्तर्यनियम अर्थात् 'कारणक्षण के अनन्तर ही कार्यक्षण की उत्पत्ति' है, वही 'अपेक्षा' कहलाती है। और कारण की सत्ता मात्र ही उसका व्यापार (क्रिया अर्थात् कार्योत्पाद सामर्थ्य) है क्योंकि कारण की सत्तामात्र से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

५४१ जिन लोगों की बुद्धि अभी तक 'नित्य आत्मा' के चक्कर में फँस रही है, वे लोग, विज्ञानसन्तान के 'ऐक्य' की मिथ्या कल्पना के कारण अहंकार के अभिमान में पड़ कर, क्षणिक विज्ञानों के प्रवाह का साक्षात्कार नहीं कर सकते।

५४२. किन्तु जिन अभिसम्बुद्धों को तत्त्व-साक्षात्कार हो गया है, वे प्रतिक्षण विनाशी विज्ञानों के सन्तान-नियम को जान कर शुभ कर्म किया करते हैं।

५४४. अविद्या-संस्कार आदि कारण-कार्य-शृंखलारूपी प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र ही बन्ध है; और इसका निरोध हो कर विशुद्ध विज्ञान-सन्तति का प्रवाहित होना ही मोक्ष है।

द्रव्यपरीक्षाः—५५१. हम पहले ही सारी वस्तुओं के क्षणिकत्व का प्रतिपादन करके नित्य परमाणुओं को असिद्ध कर चुके हैं।

५५६. अतः परमाणुओं के संयोग से निर्मित किसी अवयवी पदार्थ की सत्ता भी, प्रमाणहीन होने से, सिद्ध नहीं हो सकती।

नित्य चेतन द्रव्य रूपी आत्मा का खण्डन भी पहले किया जा चुका है।

गुणपरीक्षाः—६३४. द्रव्यों के प्रतिषेध से उन पर आश्रित गुण, कर्म आदि भी निरस्त हो जाते हैं।

कर्मपरीक्षाः—६६२. भावों के क्षणिक होने के कारण उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन नामक पाँच प्रकार के कर्म भी असम्भव हैं, क्यों कि जहाँ ये उत्पन्न होते हैं वहाँ से विनष्ट हो जाते हैं।

७०७. गमन या गति भी भ्रान्ति है क्योंकि, प्रदीप-शिखाओं के समान, वह समान, किन्तु भिन्न और अगतिशील, क्षणों की धारा हैं। यह 'सन्तानैक्य की कल्पना' मिथ्या है, क्यों कि क्षणों को गमन का अवकाश ही नहीं है।

सामान्य परीक्षाः—७०८. द्रव्य, गुण और कर्म के प्रतिषेध से 'सामान्य' को भी निषिद्ध समझना चाहिये, क्योंकि सामान्य इन्हीं तीन पदार्थों पर आश्रित है।

७२८. भारवहन, दुग्ध-दोहन आदि के उपयुक्त पदार्थों के विषय में 'गो' आदि सांकेतित शब्दों का व्यवहार किया जाता है, अतः 'गोत्व' रूपी सामान्य कल्पना मात्र ही है।

७३४. सत् तो स्वलक्षण है। यह परमार्थ क्षण है। शब्दों और बुद्धि के विकल्पों की पहुंच स्वलक्षण तक नहीं है।

विशेष परीक्षाः—८१३. नित्य द्रव्यों में रहने वाले जिन 'विशेषों' की कल्पना की गई है, वे भी, नित्य द्रव्यों के अभाव में, असिद्ध ही हैं। वे केवल क्षण हैं।

समवायपरीक्षाः—८२५. यदि सब पदार्थों में एक ही समवाय हो, तो घट-कपालों के विषय में भी पटादिरूप ज्ञान होना चाहिये।

८५७-८५८. समवाय के नित्य होने से समवायी पदार्थों को भी नित्य होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता। संयुक्त पदार्थों के अभाव में जैसे संयोग नहीं रहता और संयोग के अभाव में संयुक्त पदार्थ नहीं रहते, वैसे ही समवाय के अभाव में समवायी और समवायी पदार्थों के अभाव में समवाय भी नहीं रहना, चाहिये। समवाय और संयोग दोनों सम्बन्ध ही हैं अतः एक को नित्य और पदार्थ तथा दूसरे को अनित्य और गुण मानना ठीक नहीं।

शब्दार्थपरीक्षाः—८७०. पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है कि वह शब्दों की पकड़ में नहीं आते। अतः जो जो शब्द जिस जिस विषय की ओर संकेत करते हैं, वह विषय वास्तव में विद्यमान नहीं है वास्तविक विषय तो स्वलक्षण हैं, और स्वलक्षण तक शब्दों की गति नहीं।

१००४. अपोह दो प्रकार का है—पर्युदास और निषेध। पर्युदास भी दो प्रकार का है—बुद्ध्यात्म और अर्थात्म।

१०११. इनमें से पहला अपोह (पर्युदास) शब्दों द्वारा प्रतिपाद्य है, क्योंकि शब्दजन्य बुद्धि बाह्य अर्थ को ग्रहण करती है।

१०१२ शब्दजन्य बुद्धि अपने हो प्रतिबिम्ब को अर्थ समझ कर ग्रहण करती है। इस प्रकार यह कारण-कार्यरूपो वाच्य-वाचक भाव उत्पन्न होता है।

१०१३. यह पर्युदास अपोह का साक्षात् आकार है। निषेध रूपी अपोह की प्रतीति साक्षात् न होकर सामर्थ्यवश होती है।

१०४७. इन निषेधरूपी अपोहों का बाह्य रूप कल्पित है, वास्तविक नहीं, क्योंकि वस्तुतः भेद और अभेद वस्तु में ही रहते हैं।

१०४९. (जैसा आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाण वार्तिक १,८८ में कहा है—) 'स्वलक्षणरूपी अर्थ न एक हैं और न भिन्न। वाग्विषयातीत होने से एक और अनेक आदि के विकल्प वहां लागू नहीं होते। यह केवल बुद्धि का विकल्प ही है जो एक या अनेक, अभिन्न या भिन्न प्रतीत होता है।

१०६६. शब्दजन्य बुद्धि, बाह्य अर्थ को न पाकर भी, अनादि प्रबल अविद्या के कारण, अपने ही प्रतिबिम्ब को बाह्य अर्थ समझ लेती है।

१०६७. बस शब्द इतना ही करते हैं। स्वलक्षणरूपी वास्तविक अर्थों का तो शब्द स्पर्श तक नहीं कर पाते। अतः अपोह से विशिष्ट कोई अर्थ प्रतीत नहीं होता।

१०८९. व्यवहार-मार्ग में इन दोनों प्रकार के अपोहों को 'वस्तु' माना जाता है, अतः उन्हें असत् नहीं कहा जाता। परमार्थतः तो अपोह मिथ्या हैं ही।

प्रत्यक्षलक्षणपरीक्षाः—१२१४. कल्पनापोढ और अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। अभिलापिनी प्रतीति को कल्पना कहते हैं।

१२१९. कुछ लोग कल्पना को सामान्य सम्बन्ध योग्य मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सामान्य स्वयं असिद्ध हैं और अदृष्ट है।

१२८५. स्वलक्षण के विषय में जो ज्ञान होता है वह शब्दों द्वारा अगम्य और निर्विकल्प है। वही प्रत्यक्ष है।

१३१२. केशोण्डूक (निर्बल आँखों के आगे केश जैसे निशान दिखाई देना) आदि भ्रान्ति की निवृत्ति के लिये प्रत्यक्षलक्षण में 'अभ्रान्त' यह विशेषण दिया है।

अनुमानलक्षणपरीक्षाः—१३६२. स्वार्थ और परार्थ-दो प्रकार का अनुमान होता है। त्रिरूप लिंग से अनुमेय ज्ञान स्वार्थानुमान है।

१३६३. त्रिरूपलिंगवचन यदि दूसरों को समझाने के लिये प्रयुक्त किया जाय, तो वह परार्थानुमान है।

१३८५. आचार्य (धर्मकीर्ति) ने भी यह संक्षेप लक्षण किया है—हेतु पक्ष-धर्म या उसके अंश से व्याप्त होता है।

१४५६. कुछ कुदृष्टि लोग (चार्वाक) अनुमान को प्रमाण नहीं मानते, यद्यपि उनके इस कथन से ही उनकी विवक्षा का अनुमान होता है।

१७०१. प्रमेय पदार्थ दो प्रकार के ही हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष, अतः प्रमाण भी दो ही हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान।

बहिरर्थपरीक्षा:—१९९९. चाहे ज्ञान निराकार हो, चाहे साकार, चाहे अन्याकार, किन्तु वह कभी भी बाह्य अर्थ को नहीं जानता।

२०००. जब विज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह जडरूप से भिन्न होकर ही उत्पन्न होता है। उसकी यह अजडरूपता ही स्वसंवेदन कहलाती है।

२००२. ज्ञान के चैतन्य रूप होने से उसका स्वसंवेदन युक्त है। अतः बाह्य अर्थ का संवेदन कैसे हो सकता है?

२०८२. विज्ञानत्व और प्रकाशत्व एक ही है, क्योंकि विज्ञान स्वप्रकाश है। 'ग्राह्य' विषय कभी स्वप्रकाश नहीं हो सकता। अतः व्याप्ति ठीक है। तथाकथित बाह्य पदार्थ वास्तव में विज्ञान का ही ग्राह्यभाग है।

२०८३. हम शक्ति के अनन्तर ग्राह्यांश का ज्ञान होने पर विषय की स्थिति को तात्विक नहीं मानते; अतः हम 'विज्ञान ही तत्व है' इसका प्रमाण से समर्थन करते हैं।

२०८४. बुद्धिमान् आचार्य (वसुबन्धु) ने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि स्पष्ट रूप से की है। हम भी परमार्थ के चिन्तन में उसी मार्ग पर चल रहे हैं।

श्रुतिपरीक्षा:—२३७४ वेद स्वयं ही अपना अर्थ प्रकट नहीं करता। जैसे अन्धा चलने के लिये लकड़ी की अपेक्षा रखता है, वैसे ही वेद भी पुरुषों की व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

२४००. यदि वेदों को प्रमाण मानने की आप लोगों की तीव्र उत्कण्ठा है, तो उन्हें निर्दोष कर्ता द्वारा रचित सिद्ध करने का प्रयत्न कीजिये।

२४०२. प्रज्ञा, कृपा आदि से युक्त पुरुषों के युक्तियुक्त आप्तवचन यथार्थ ज्ञान के हेतु होते हैं।

२४३९. अनुमान वस्तु पर आश्रित होता है, अतः केवल शब्द से या शब्द-जन्य ज्ञान से यथार्थ अनुमान का बाध नहीं हो सकता।

२४४६. मिथ्यानुराग के कारण उत्पन्न वेदाभ्यास से जड बने हुये लोगों को यदि मिथ्यात्व के हेतु का पता न चले तो कोई आश्चर्य नहीं।

३२२३. यदि वेद-प्रामाण्य सिद्ध करना चाहते हैं, तो अतीन्द्रिय पदार्थों को देखने वाला, समस्त अज्ञानान्धकार को निरस्त कर देने वाला, वेदों के अर्थ और विभाग का ज्ञाता कोई वेद-रचयिता स्वीकार करना पड़ेगा।

अतीन्द्रियदर्शिपुरुषपरीक्षा:—३२०९. ब्राह्मण कहते हैं कि कहाँ तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामक तीन सर्वोत्तम देव और कहाँ बुद्ध आदि मरणशील

मनुष्य ! इन देवत्रय की स्पर्द्धा के कारण बुद्ध को भी सर्वज्ञ मानना अज्ञान है।

३२२७ बुद्ध ने अपना उपदेश मूर्खों और शूद्रों को दिया। इसी से सिद्ध है कि वह उपदेश नकली सिक्कों के समान बनावटी है और भ्रान्त है।

३२७६. ये कथन निर्मूल हैं। मीमांसक लोग सर्वज्ञ को नहीं मानते क्योंकि उन्हें कोई सर्वज्ञ दिखाई नहीं देता। किन्तु बिना सर्वज्ञ बने सर्वज्ञ के दर्शन कैसे हो सकते हैं ? सर्वज्ञ को देखने के लिये स्वयं सर्वज्ञ बनना पड़ेगा।

३२९०. सर्वज्ञ बुद्ध ही अपनी स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश ज्योति का स्वयं अनुभव करते हैं।

३३२२. भगवान् बुद्धने शिष्यों के हित के लिये नैरात्म्यवाद का उपदेश दिया है, जो अद्वितीय है, परम कल्याण का द्वार है और मूर्खों के लिये भयङ्कर है।

३४३५. यह चित्त ही, वास्तव में तत्वदर्शनस्वरूप है और प्रकृतिप्रभास्वर या स्वप्रकाश है। समस्त मल आगन्तुक हैं, स्वतःसिद्ध नहीं।

३४३७. अतः यह स्वसंवित्ति स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध होने से निराकार निर्विकल्प और निष्प्रपञ्च है।

३४४०. अतः बुद्ध का निर्मल, निष्कम्प, सर्वगुणसम्पन्न, दोषरूपी वायु से अविचलित और सर्वज्ञ होना सिद्ध है।

३४८६. जिससे अभ्युदय (ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख और उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो सके वही धर्म है—ऐसा लक्षण सभी बुद्धिमान् व्यक्ति करते हैं।

३४८९. आत्मदृष्टि के कारण अहंकार और ममकार प्रवर्तित होते हैं और 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है' इस प्रकार की दृष्टि से समस्त क्लेश उत्पन्न होते हैं।

३४९२. इस आत्मदृष्टि का आत्यन्तिक उपशम होना ही अपवर्ग या मोक्ष कहलाता है. अतः विशुद्ध नैरात्म्यदर्शन ही अद्वितीय कल्याण का द्वार है।

३५३५. आगन्तुक मलों से रहित शुद्ध स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश चित्तमात्र का ज्ञान ही विशुद्धात्मदर्शन है।

३५३६. तर्क ज्ञाता-ज्ञेय, विषयी-विषय, ग्राहक-ग्राह्य, वेदक-वेद्य के द्वैत पर ही टिकता है। जब इन विकल्पों का क्षय हो जाता है, तो स्वप्रकाश निर्विकल्प बुद्ध-ज्ञान का प्रकाश होता है। ऐसा सम्बुद्धों का मत है।

३५३८. ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की त्रिपुटी के प्रपञ्च से, सब प्रकार के द्वैत से

अकलंकित, प्रकृतिप्रभास्वर चित्त के विषय में, द्वैत से निर्लिप्त प्रज्ञावाला पुरुष कभी अन्यथाज्ञान नहीं कर सकता।

३५४०. यही वह सारी सम्पत्ति प्रदान करनेवाला परम तत्त्व है जिसका तत्त्ववादी भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिया है। इस तत्त्व को विष्णु आदि ने नहीं समझा है।

३५६९. सदा लोककल्याण करने में तत्पर, दयामूर्ति भगवान् बुद्ध ने, समस्त प्राणियों के निःस्वार्थ बन्धु होने के कारण, सभी लोगों को इस परमपद का उपदेश दिया है।

३५७३. भगवान् को विवाह—गौना आदि सम्बन्ध तो करना नहीं था, कि वे अपने सम्बन्धियों को ही उपदेश देते; वे तो सभी लोगों के कल्याण की दृष्टि से उपदेश देते थे। आप लोगों की 'गीता' में भी तो ठीक ही कहा है कि—

३५७४. 'विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में—सब में पण्डितों को समदृष्टि रखना चाहिये।'

३५७५. बहुत समय बीत गया है; स्त्रियाँ स्वभाव से ही चपल होती हैं; अतः जाति का अहंकार शोभा नहीं देता। जाति का सैकड़ों बार निराकरण हो चुका है।

३५८२. आप लोगों के गुरुओं ने यह समझ कर ही कि ब्राह्मण लोग वेदजड हैं और युक्तियों की परीक्षा नहीं कर सकते, ब्राह्मणों को ही वेदादि का उपदेश दिया है।

३५८६–३५८८. किन्तु भगवान् बुद्ध, अपने उपदेशों को युक्तियुक्त समझ कर और स्वयं उन उपदेशों को सप्रमाण लोगों के सम्मुख सिद्ध करने की तथा अन्धविश्वासी अबौद्धरूपी मस्त हाथियों का प्रमाण—मद उतार देने को शक्ति समझकर, निर्भय हो कर इस प्रकार सिंह-नाद करते हैं—'हे भिक्षुओं! जिस प्रकार लोग सोने को अग्नि में तपा कर और अच्छी तरह ठोक पीट कर तथा कसौटी में कस कर खरा मानते हैं, उसी प्रकार आप लोग मेरे वचनों को ज्ञानाग्नि में तपाकर, उनकी सांगोपांग परीक्षा कर के तथा उसे बुद्धि की कसौटी में कस कर स्वीकार करना, केवल मेरे प्रति आदर और श्रद्धा के कारण ही उन्हें सत्य मत मान लेना।'

बौद्धदर्शन-मीमांसा

पं० बलदेव उपाध्याय साहित्याचार्य, एम० ए०

भूमिकालेखकः—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज एम० ए०

इस ग्रन्थ में बौद्ध-दर्शन की नाना शाखा-प्रशाखाओं के इतिहास, सिद्धान्त, तथा बौद्ध-दर्शन एवं दर्शन के विभिन्न अंगों का प्रामाणिक तथा सांगोपांग वर्णन किया गया है। बौद्ध-दर्शन के इतिहास में बौद्ध-योग तथा बौद्ध-तन्त्रों का ऐसा दार्शनिक वर्णन प्रथम वार ही प्रकाशित हुआ है। संस्कृत-साहित्य के पुनरुज्जीवन में अग्रणी भारत-विभूति उपाध्याय जी की लौह लेखनी से प्रसूत इस ग्रंथ की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना है। इसमें पाँच खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में बुद्ध के मूल धर्म का वर्णन, द्वितीय में बौद्ध-धर्म का विकास, तृतीय में वैभाषिक, सौत्रान्त्रिक, योगाचार तथा माध्यमिक संप्रदायों के गूढ़तथ्यों का सरल विवेचन, चतुर्थ में बौद्ध-न्याय, बौद्ध-योग तथा बौद्ध-तन्त्रों का वर्णन एवं पंचम में बौद्ध-धर्म का विस्तार से उपाख्यान है। इस ग्रंथ की उपादेयता पर प्रसन्न होकर उत्तर प्रदेश की सरकार ने विद्वान लेखक को १०००—०० तथा डालमिया पुरस्कार २१००—०० से पुरस्कृत कर सम्मानित किया है।

द्वितीय संस्करण ६—००

न्यायबिन्दुः

श्री धर्मोत्तराचार्य कृत संस्कृत टीका तथा
पं० चन्द्रशेखर शास्त्री कृत हिन्दी टीका सहित।

यद्यपि बौद्धन्याय गौतम के न्यायदर्शन के पश्चात् बना है तथापि भारत के दार्शनिकों को नव्य-न्याय के ग्रन्थों को लिखने का मार्ग प्रायः बौद्ध-नैयायिकों ने ही दिखलाया है—इस बात की सत्यता प्रस्तुत ग्रन्थ के अवलोकन से सिद्ध होती है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में प्रत्यक्ष, द्वितीय में स्वार्थानुमान और तृतीय में परार्थानुमान का वर्णन है। इसकी हिन्दी टीका में संस्कृत टीका का भी सांगोपांग अनुवाद करके इस ग्रन्थ की सुविस्तृत हिन्दी भूमिका में गौतमन्याय, जैनन्याय तथा बौद्ध-न्यायों का क्रमिक उपचयापचय तथा विकास की समालोचना करते हुए बौद्ध-दर्शन का संपूर्ण संक्षिप्त इतिहास भी लिख दिया गया है। बौद्ध-दर्शन प्रेमी विद्वानों के लिये यह संस्करण अवश्य ही अवलोकन करने योग्य है।

मूल्य ५—००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी—१